विवेक ज्योति
वार्षिक रु. ६०.००
मूल्य रु. ८.००
वर्ष ४६ अंक ९ सितम्बर २००८
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख:भाग्भवेत् ॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दु:ख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २००८

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक ९

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए — रु. २७५/-
संस्थाओं के लिये —
वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए — रु. ४००/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,२००/-
विदेशों में — वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन — २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)
{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)
दूरभाष: ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४६ सितम्बर २००८ अंक ९

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।।३१।।

अन्वय – मोक्ष-कारण-सामग्र्याम् भक्तिः एव गरीयसी । स्व-स्वरूप-अनुसन्धानम् इति भक्तिः अभिधीयते ।

अर्थ – मोक्ष प्राप्ति के साधनों में भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। अपने वास्तविक स्वरूप की खोज को भक्ति कहा गया है।

स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः ।
उक्तसाधनसंपन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ।
उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम् ।।३२।।

अन्वय – अपरे स्व-आत्मतत्त्व-अनुसन्धानं भक्तिः इति जगुः । उक्त-साधन-सम्पन्नः आत्मनः तत्त्वजिज्ञासुः प्राज्ञं गुरुं उपसीदेत्, यस्मात् बन्ध-विमोक्षणम् (भवति) ।

अर्थ – अन्य लोगों ने अपनी आत्मा के तत्त्व की खोज को भक्ति कहा है। पूर्वोक्त (चार) साधनों से युक्त और तत्त्व को जानने का इच्छुक व्यक्ति ज्ञानी गुरु के पास जाय, जो उसे भव-बन्धन से मुक्त कर देते हैं।

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।।३३।।

अन्वय – यः श्रोत्रियः, अवृजिनः, अकामहतः, ब्रह्मवित्तमः, ब्रह्मणि उपरतः, निरिन्धन अनलः इव शान्तः, अहेतुक-दया-सिन्धुः, आनमताम् सताम् बन्धुः ।

अर्थ – ऐसे गुरु के पास जाय, जो वेदशास्त्र के ज्ञाता हों, निष्पाप हों, कामनाशून्य हों, ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ हों, ब्रह्म-चिन्तन में तन्मय हों, ईंधन समाप्त हुई अग्नि के जैसे शान्त हों, अहेतुक दयासिन्धु हों और विनम्र सज्जनों के मित्र हों।

तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः ।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः।।३४।।

अन्वय – तम् गुरुं भक्त्या आराध्य प्रह्व-प्रश्रय-सेवनैः प्रसन्नं तम् अनुप्राप्य आत्मनः ज्ञातव्यम् पृच्छेत् ।

अर्थ – ऐसे गुरु की भक्तिपूर्वक प्रणाम, नम्रता तथा सेवा के द्वारा आराधना करके सन्तुष्ट करे और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख उपस्थित होकर अपना ज्ञातव्य विषय उनसे पूछे।

स्वामिन् नमस्ते नतलोकबन्धो
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ।।३५।।

अन्वय – स्वामिन्, नतलोकबन्धो, कारुण्यसिन्धो ते नमः । भवाब्धौ पतितं माम् अति-कारुण्य-सुधाभिवृष्ट्या ऋज्व्या आत्मीय-कटाक्षदृष्ट्या, उद्धर ।

अर्थ – हे स्वामी, हे प्रणत-दीनजनों के बन्धु, हे करुणा के सिन्धु ! आपको मेरा प्रणाम है। मुझ भवसागर में पड़े हुए पर, आप अपनी करुणा की वर्षा करनेवाली सीधी दृष्टि डालकर मेरा उद्धार करें।

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः ।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः शरण्यमन्यद्यदहं न जाने ।।३६।।

अन्वय – दुर्वार-संसारदवाग्नितप्तं, दुरदृष्टवातैः दोधूयमानं, मृत्योः भीतं प्रपन्नं परिपाहि । यत् अहं अन्यत् शरण्यं न जाने ।

अर्थ – इस संसार-रूपी वन की दुर्निवार्य दावाग्नि से दग्ध, दुर्भाग्य-रूपी आँधी से बुरी तरह कम्पमान, मृत्यु के भय से शरणागत की रक्षा कीजिये, क्योंकि मैं शरण लेने योग्य आपके अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं जानता।

आत्म-प्रबोधन

– १ –

(मारु-विहाग–कहरवा)

रे मन अब तो सोच विचार ।
जो कुछ मिला तुझे जीवन में, सब ही तुच्छ-असार ।।

खाते-पीते रंग रचाते, विपद पड़ी तो रोते गाते,
चले गए जो भी पाए थे, जीवन के दिन-चार ।।

पद-संपद यश-रिश्ते-नाते, क्रमशः अन्तर्हित हो जाते,
खिसक रहे हैं पाँव तले से, जैसे नदी-कगार ।।

जीवन के दुर्लभ अमोल दिन, व्यर्थ गए प्रभु-भक्ति-भजन बिन,
रोग-शोक भय-जरा-मृत्यु सब, आ पहुँचे हैं द्वार ।।

अब भी चेत समझ माया-छल,
काल ग्रस रहा सब कुछ पल पल,
रह जाएगा धरा यहीं पर, तेरा घर संसार ।।

चित्त लगा प्रभु के चरणन में,
मत प्रमाद कर स्मरण-मनन में,
कृपा नाव में चढ़ 'विदेह' अब, हो जा सागर पार ।।

– २ –

जीवन नदिया बहती जाए ।
कभी रुको मत, कहीं न ठहरो,
पल-पल हमसे कहती जाए।।

चाहे शीतल मन्द पवन हो, या झंझा-आच्छन्न गगन हो ।
मृदु हों या उत्ताल तरंगें, सबको प्रतिपल सहती जाए ।।

पुष्पोद्यान खिले हों तट पर, या मरुभूमि शुष्क हो तप कर ।
सुषमा हो या हो विभीषिका, दुनिया सतत छूटती जाए ।।

चाहे पाट कहीं सँकरा हो, या वर्षा-जल खूब भरा हो ।
सब कुछ सहज समेट स्वयं में, आगे ही वह बढ़ती जाए ।।

कहीं धूप है, कहीं छाँव है; पर न कहीं भी पथ-पड़ाव है ।
इसी तरह उस छोर पहुँच कर, सागर में ही ढलती जाए ।।

चारों वर्णों का शासन

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

श्रमिकों का जागरण होगा

चारों वर्ण – पुरोहित, सैनिक, व्यापारी और मजदूर बारी-बारी से मानवी समाज पर शासन करते हैं। हर शासन का अपना गौरव और अपना दोष होता है। ब्राह्मण के राज्य में वंश के आधार पर भयंकर पृथकता रहती है – पुरोहित तथा उनके वंशज सब प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं। उनके सिवा किसी को कोई ज्ञान नहीं होता और उनके सिवा किसी को शिक्षा देने का अधिकार नहीं है। इस विशिष्ट युग में सब विद्याओं की नींव पड़ती है, यह इसका गौरव है। ब्राह्मण मन को उन्नत करते हैं, क्योंकि मन द्वारा ही वे राज्य करते हैं।

क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है, परन्तु उनमें पृथकता नहीं रहती और उनके युग में कला और सामाजिक संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है।

तब वैश्य शासन आता है। इसमें कुचलने और खून चूसने की मौन शक्ति बड़ी भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सर्वत्र जाता है, अत: वह पहले दोनों युगों में एकत्र हुए विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, पर सभ्यता की अवनति शुरू हो जाती है।

अन्त में आयेगा मजदूरों का शासन। उसका लाभ होगा भौतिक सुखों का समान वितरण – और उससे हानि होगी, शायद संस्कृति का निम्न स्तर पर गिर जाना। साधारण शिक्षा का बहुत प्रचार होगा, परन्तु समाज में असामान्य प्रतिभाशाली लोग कम होते जायेंगे। परन्तु पहले तीनों का राज्य हो चुका है। अब शूद्र शासन का युग आ गया है – वे अवश्य राज्य करेंगे, और उन्हें कोई रोक नहीं सकता।[६३]

एक ऐसा समय आयेगा, जब शूद्रत्व सहित शूद्रों का प्राबल्य होगा; आजकल जैसे शूद्र जाति वैश्यत्व या क्षत्रियत्व लाभ कर अपना बल दिखा रही है, वैसे नहीं, वरन् शूद्र जाति सब देशों में अपने शूद्रोचित धर्म-कर्म सहित समाज में आधिपत्य प्राप्त करेगी। यूरोप में इसकी लालिमा भी आकाश में दिखने लगी है और इसका फलाफल सोचकर सभी लोग घबराये हुए हैं। सोशलिज्म, अनार्किज्म, निहिलिज्म आदि सम्प्रदाय इस विप्लव के आगे चलनेवाली ध्वजायें हैं।[६४]

तुम नहीं देखते, परन्तु मैं आवरण के पीछे भविष्य की दुनिया में होनेवाली घटनाओं की छाया को देख रहा हूँ। ईश्वर की कृपा से वर्षों के सूक्ष्म निरीक्षण से मुझे यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है। अध्ययन और यात्रा करो, यही साधना है। जैसे ज्योतिर्विज्ञानी दूरवीक्षण यंत्र के द्वारा नक्षत्रों की गति का अध्ययन करते हैं, वैसे ही इस संसार की भावी घटनावली मेरे दृष्टिक्षेत्र के सम्मुख प्रकट हो जाती है। मेरी बात पर विश्वास करो, शूद्रों का यह उत्थान पहले रूस में होगा और तब चीन में। उसके बाद भारत का उदय होगा और भावी जगत् के रूपायन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।[६५]

यदि ऐसा राज्य स्थापित करना सम्भव हो, जिसमें ब्राह्मण युग का ज्ञान, क्षत्रिय युग की सभ्यता, वैश्य युग का प्रचार-भाव और शूद्र युग की समानता लायी जा सके – उनके दोषों को त्यागकर – तो वह एक आदर्श राज्य होगा। परन्तु क्या यह सम्भव है?

अन्य सभी मतवाद अपनाये गये हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा होने दो – यदि और किसी कारण से नहीं, तो उसकी नवीनता के लिये ही सही। सर्वदा एक ही वर्ग के लोगों को सुख और दु:ख मिलने की अपेक्षा सुख और दु:ख का बँटवारा बेहतर है। संसार में भलाई और बुराई का योग समान ही रहता है। नये विधान में, वह भार बस, एक कन्धे से दूसरा कन्धा बदल लेगा।[६६]

नया भारत

एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की कुटीरों से। निकल पड़े बनियों की दुकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से। निकल पड़े झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों, पर्वतों से। इन लोगों ने हजारों वर्षों तक नीरव अत्याचार सहन किया है – उससे पायी है अपूर्व सहनशीलता। सनातन दु:ख उठाया, जिससे पायी है अटल जीवनी शक्ति। ये लोग मुट्ठी भर सत्तू खाकर दुनिया को उलट सकेंगे। आधी रोटी मिली, तो तीनों लोक में

इनका तेज न अटेगा? ये रक्तबीज के प्राणों से युक्त हैं। और पाया है सदाचार-बल, जो तीनों लोकों में नहीं है।

इतनी शान्ति, इतनी प्रीति, मौन रहकर दिन-रात इतना खटना और काम के वक्त सिंह-विक्रम !! अतीत के कंकालो ! यही है तुम्हारे सामने तुम्हारा उत्तराधिकारी भावी भारत।[६७]

इस युग का केन्द्र होगा – भारत

क्या भारत मर जायेगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायेगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायेगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायेगा और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासिता-रूपी देवी राज्य करेंगे। धन उनका पुरोहित होगा। छल, पाशविक बल और स्पर्धा – ये ही उनकी पूजा-पद्धति होंगी और मानवात्मा उनकी बलि-सामग्री हो जायेगी। ऐसा कभी नहीं हो सकता। क्रियाशक्ति की अपेक्षा सहनशक्ति कई गुना प्रबल होती है। घृणा के बल से प्रेम का बल अनन्त गुना सबल है।[६८]

सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महा-दु:ख का प्राय: अन्त ही प्रतीत होता है। महानिद्रा में निमग्न शव मानो जाग्रत हो रहा है। इतिहास की बात तो दूर रही, सुदूर अतीत के जिस घोर अँधेरे को भेदने में जनश्रुतियाँ भी असमर्थ हैं, वहीं से एक आवाज हमारे पास आ रही है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के अनन्त हिमालय स्वरूप हमारी मातृभूमि भारत की हर चोटी पर प्रतिध्वनित होकर यह आवाज मृदु, दृढ़ परन्तु अभ्रान्त स्वर में हमारे पास तक आ रही है। जितना समय बीतता है, उतनी ही वह और भी स्पष्ट तथा गम्भीर होती जाती है – और देखो, वह निद्रित भारत अब जागने लगा है। मानो हिमालय के प्राणप्रद वायु-स्पर्श से मृतदेह के शिथिलप्राय अस्थि-मांस तक में प्राण-संचार हो रहा है, जड़ता धीरे-धीरे दूर हो रही है। जो अन्धे हैं, वे ही देख नहीं सकते और जो विकृत बुद्धि हैं वे ही समझ नहीं सकते कि हमारी मातृभूमि अपनी गम्भीर निद्रा से अब जाग रही है। अब कोई उसे रोक नहीं सकता। अब यह फिर सो भी नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति अब इसे दबा नहीं सकती।[६९]

प्राचीन काल में बहुत-सी चीजें अच्छी थीं और अनेक बुरी भी। उत्तम वस्तुओं की रक्षा करनी होगी, परन्तु प्राचीन भारत से भविष्य का भारत कहीं अधिक महान् होगा।[७०]

अतीत तो हमारा गौरवमय था ही, परन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारा भविष्य और भी अधिक गौरवमय होगा।[७१]

भारत का पुनरुत्थान होगा, पर जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति से। यह उत्थान विनाश से नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा लेकर, संन्यासियों के वेश से होगा – धन की शक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पन्न होगा।... अपने समक्ष मैं एक स्पष्ट दृश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह प्राचीन माता एक बार पुन: जाग्रत होकर नव-यौवनपूर्ण और पूर्व से कहीं अधिक महिमान्वित होकर अपने सिंहासन पर विराजी है। शान्ति और आशीर्वाद की वाणी के साथ सारे संसार में उसके नाम की घोषणा कर दो।[७३]

जगत् में बड़ी-बड़ी विजयी जातियाँ हो चुकी हैं, हम भी महान् विजेता रह चुके हैं। हमारी विजय की गाथा को भारत के महान् सम्राट् अशोक ने धर्म तथा आध्यात्मिकता की ही विजय बताया है। एक बार फिर भारत को विश्वविजय करना होगा। यही मेरे जीवन का स्वप्न है। ... यही हमारे सामने वह महान् आदर्श है और प्रत्येक को इसके लिये तैयार रहना होगा – वह आदर्श है भारत की विश्वविजय – इससे छोटा कोई आदर्श न चलेगा और हम सभी को इसके लिये तैयार रहना होगा। इसके लिये भरसक कोशिश करनी होगी। ... उठो भारत, तुम अपनी आध्यात्मिकता द्वारा जगत् पर विजय प्राप्त करो ! जैसा कि इसी देश में सर्वप्रथम प्रचार किया गया है, प्रेम ही घृणा पर विजय प्राप्त करेगा, घृणा घृणा को नहीं जीत सकती, हमें भी वैसा ही करना पड़ेगा। भौतिकवाद और उससे उत्पन्न क्लेश भौतिकवाद से कभी दूर नहीं हो सकते। जब एक सेना दूसरी सेना पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करती है, तो वह मानव जाति को पशु बना देती है और इस प्रकार वह पशुओं की संख्या बढ़ा देती है। आध्यात्मिकता पाश्चात्य देशों पर अवश्य विजय प्राप्त करेगी। पाश्चात्य लोग क्रमश: अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें राष्ट्र के रूप में बने रहने के लिये आध्यात्मिकता की जरूरत है। वे इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; चाव से इसकी बाट जोह रहे हैं। उसकी पूर्ति कहाँ से होगी? वे आदमी कहाँ हैं, जो भारतीय ऋषियों के उपदेश जगत् के सब देशों में पहुँचाने के लिये तैयार हों? कहाँ हैं वे लोग, जो सब कुछ इसलिये छोड़ने को तैयार हों कि ये हितकर उपदेश संसार के कोने-कोने तक फैल जायँ? सत्य के प्रचार के लिये ऐसे ही वीर हृदय लोगों की जरूरत है। वेदान्त के महासत्यों को फैलाने के लिये ऐसे वीर कर्मियों को बाहर जाना होगा। जगत् इसे चाहता है, जगत् इसके बिना नष्ट हो जायेगा। सारा पाश्चात्य जगत् मानो एक ज्वालामुखी के मुख पर स्थित है, जो कल ही फूटकर उसे चूर-चूर कर सकता है। उन्होंने सारी दुनिया छान डाली, पर उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली। उन्होंने इन्द्रिय-सुख का प्याला पीकर खाली कर डाला, पर फिर भी उससे उन्हें तृप्ति नहीं मिली। भारत के धार्मिक विचारों को पाश्चात्य देशों की नस-नस में भर देने का यही समय है। इसलिये, ... हमें बाहर जाना ही पड़ेगा, अपनी आध्यात्मिकता तथा दार्शनिकता से हमें जगत् को जीतना होगा। दूसरा कोई उपाय ही नहीं है, हमें निश्चित

(शेष अगले पृष्ठ पर)

श्री हनुमत्-चरित्र (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

हनुमानजी के चरित्र में परिपूर्णता और समग्रता विद्यमान है। चार तरह की उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। ज्ञान विचार-प्रधान है, भक्ति भावना-प्रधान है और कर्म क्रिया-प्रधान है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म की तीन परम्पराएँ तो थी ही, पर गोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में एक चौथी परम्परा का भी संकेत किया। उन्होंने मानसरोवर के चार घाटों की कल्पना की। उन्होंने कहा – रामकथा एक विशाल मानसरोवर है, जिसमें चार घाट हैं। उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म के तीन घाट तो हैं ही, पर साथ ही एक घाट और भी है। यदि किसी में विचार-शक्ति न हो, यदि कोई अपने आप में भावना का अभाव पाता हो, यदि कोई अपने आप में कर्म करने की शक्ति न होने का अनुभव करता हो, तो क्या ऐसे व्यक्ति के लिये कल्याण का कोई मार्ग है? तो गोस्वामीजी ने 'दैन्य' भाव का सूत्र दिया। प्राचीन काल में आचार्यों ने इसके लिये 'शरणागति' शब्द का भी प्रयोग किया है। तो जिसमें सामर्थ्य है, वह अपने सामर्थ्य का सदुपयोग करें – आपमें यदि विचार-शक्ति है, तो उसका सदुपयोग ज्ञान में कीजिये। यदि आपका हृदय भावुक है, तो भावना के द्वारा भगवान से स्वयं को जोड़ लीजिये और यदि आपमें पुरुषार्थ की, कर्म करने की शक्ति है, तो कर्म के द्वारा भगवान की पूजा कीजिये, परन्तु यदि असमर्थता का अनुभव हो रहा हो, तो वह क्या करेंगे? इस असमर्थता का भी सदुपयोग है और वह है शरणागति या दीनता के रूप में, भगवान के समक्ष अपनी दीनता को स्वीकार करने के रूप में।

कई लोगों को सामर्थ्य की साधना की बात तो समझ में आती है, परन्तु असमर्थता की बात को वे नहीं समझ पाते। उन्हें लगता है कि ऐसा कैसे होगा कि बिना साधना के ही कोई भगवान को पा सके, धन्य हो सके। किन्तु इसे समझना बड़ा सरल है। यदि हम अपने जीवन की ही ओर दृष्टि डाल लें, तो बात समझ में आ जायेगी।

व्यक्ति की किशोरावस्था में स्मरण रखने की शक्ति होती है; युवावस्था में कर्म करने की शक्ति होती है और वृद्धावस्था में विचार करने की शक्ति होती है; परन्तु एक नन्हे बालक को जो माँ का प्यार मिलता है, वह किस योग्यता के कारण मिलता है? क्या वह बड़ा बुद्धिमान है? क्या वह बड़ा बलवान है? क्या वह बड़ा भावुक है? उसमें ये तीनों ही गुण नहीं हैं। पर कैसी अनोखी बात है? उसे माँ का जितना प्यार मिलता है, उतना तो बड़े होकर भी हम नहीं पाते। आपकी माँ में तो इतना वात्सल्य है कि कुछ न होने पर भी इतना प्यार देती है और भगवान के विषय में आप डरे हुये हैं कि हममें योग्यता नहीं होगी, तो हमें प्यार नहीं देंगे। तो क्या उनमें हमारी माता से भी कम वात्सल्य है? जो लोग वस्तुत: अपनी ओर ही नहीं देखते, उन्हीं को यह बात समझ में नहीं आती। उत्तर तो हमारे जीवन में ही छिपा हुआ है।

अत: सामर्थ्य का सदुपयोग 'साधना' और असमर्थता का सदुपयोग 'दैन्य' है। एक सज्जन ने मुझसे एक बड़ी अच्छी बात कही, मुझे बड़ी पसन्द आयी। वे बोले – आप तो भगवान के कृपा-भाजन हैं। यह बात उन्होंने प्रशंसा में कही।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

रूप से इसी को लेकर करना या मरना होगा।[७३]

अति प्राचीन काल में एक बार भारतीय अध्यात्म-विद्या यूनानी उत्साह के साथ मिलकर, रोमन, ईरानी आदि शक्तिशाली राष्ट्रों के अभ्युदय में सहायक हुई। सिकन्दर शाह के दिग्विजय के बाद इन दोनों महा जलप्रपातों के संघर्ष के फलस्वरूप ईसा आदि नाम से प्रसिद्ध आध्यात्मिक तरंग ने प्राय: आधे संसार को प्लावित कर दिया। पुन: इस प्रकार के मिश्रण से अरब का अभ्युदय हुआ, जिससे आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की नींव पड़ी और ऐसा लगता है कि इस युग में भी पुन: इन दोनों महाशक्तियों का सम्मिलन-काल आ पहुँचा है।[७४]

सन्दर्भ-सूची –

६३. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९), खण्ड ५, पृ. ३८६-८७; **६४.** वही, खण्ड ९, पृ. २१९-२०; **६५.** Swami Vivekananda : Patriot Prophet, Bhupendra Nath Dutta, 1954, p. 335; **६६.** वही, खण्ड ५, पृ. ३८७; **६७.** वही, खण्ड ८, पृ. १६७-६८; **६८.** वही, खण्ड ९, पृ. ३७७; **६९.** वही, खण्ड ५, पृ. ४२; **७०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३०९; **७१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३२; **७२.** वही, खण्ड ९, पृ. ३८०-८१; **७३.** वही, खण्ड ५, पृ. १७०; **७४.** वही, खण्ड १०, पृ. १३४

❖ **(क्रमश:)** ❖

वे शायद मानते हों कि यह मेरी किसी योग्यता का परिणाम हो, पर मैंने मन-ही-मन सोचा – "क्या आपने कृपा-भाजन शब्द के अर्थ पर विचार किया है? कृपा-भाजन का अर्थ है – कृपा का पात्र। कितनी बड़ी बात है! कृपा को जल कह लीजिये, अमृत कह लीजिये, दूध कह लीजिये और यदि कोई बर्तन है, तो बर्तन की क्या विषेशता है?

बर्तन चाहे सोने का हो, या चाँदी का हो, या किसी अन्य मूल्यवान धातु का हो, पर यदि उसमें पहले से कुछ है, तो उसमें स्थान ही नहीं है। बर्तन में स्थान ही नहीं है, तो बाहर से भगवान यदि कृपा बरसायें, तो भी जब बर्तन या घड़ा खाली ही नहीं है, तो उसमें आयेगा कैसे? बर्तन की क्या विशेषता होनी चाहिये? जो भगवान की कृपा का जल लेना चाहता है, अमृत लेना चाहता है, उसमें यही विशेषता होनी चाहिये कि उसमें कोई विशेषता नहीं होनी चाहिये। जब घड़ा खाली होगा, अभाव होगा, तभी तो उसमें जल भरेगा। भाव है तो बड़ी अच्छी बात है। आप आनन्द लीजिये। परन्तु अभाव है, तो भी अच्छा है। अभाव है, तो घड़ा खाली है। और घड़ा यदि खाली है, तो वे उसे अपनी कृपा से भर देंगे।

किसी ने एक महान् सन्त से पूछा – भगवान की कृपा कैसे हो? वे बोले – "जो 'कैसे' होगी, वह तो कृपा ही नहीं होगी! 'कैसे' जो होता है, वह तो व्यापार होता है कि इतना दाम दें, तो यह मिलेगा? तुम कृपा भी कह रहे हो और यह भी पूछते हो कि 'कैसे' होगी?" मानस में भी यही कहा गया है – प्रभु दीनबन्धु हैं, बिना कारण ही दया करनेवाले हैं –

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल ।। १/२११

भगवान की कृपा यदि सदा अकारण होती है, तो हमें उसका अनुभव क्यों नहीं होता? इसका एक ही उत्तर है – या तो आपका घड़ा इतना भरा हुआ है कि वर्षा हो रही है, पर उसमें स्थान ही नहीं; और यदि खाली भी है तो आपने उसे उलटा रख दिया होगा। है तो पूरा खाली, पर खालीपन दिखाई नहीं दे रहा है, तो भी एक बूँद नहीं आयेगी।

जिसमें विशेषता है, उसको कृपा की कोई जरूरत नहीं। फिर जिसमें कमी है, अभाव है और कृपा बरस रही है, पर यदि वह अपनी कमी को छिपाता है, तो वह भी उसे नहीं ले सकता। दूसरी ओर जिसने अपनी कमी को जान लिया है, अभाव को जान लिया है और प्रभु के सामने उस अभाव को निवेदन कर दिया, खाली घड़ा खोलकर रख दिया, बस उस अभाव में ही वह कृपा बरसकर उसे भर देगी। अत: शायद किसी के लिये ज्ञान-भाजन कहना ठीक न हो, भक्ति या कर्म के लिये भाजन शब्द उपयुक्त न हो, पर कृपा के लिये भाजन शब्द इसलिये ठीक है कि यहाँ बर्तन खाली है।

प्रभु की इस मंगलमयी कृपा को भक्तों ने अनेक रूपों में देखा है। जब अवतार लेने का निर्णय लिया, तो वे सोचने लगे कि किस तिथि में जन्म ग्रहण करूँ? तिथियाँ सामने खड़ी हो गईं। उन्होंने प्रतिपदा से पूछा – क्या विशेषता है तुममें? उसने कहा – महाराज, मैं तो प्रथम हूँ, सबसे पहले मेरा ही नाम लिया जाता है। द्वितीया बोली – भगवान शंकर तक मेरा चन्द्रमा सिर में धारण करते हैं। जब प्रभु नवमी के सामने पहुँचे और पूछा – तुममें क्या विशेषता है? नवमी ने कहा – "महाराज, मुझमें कोई विशेषता नहीं, पर एक कमी है। ज्योतिषी लोग अलग-अलग तिथियों के लिये नाम देते हैं, पर ज्योतिष-शास्त्र में नवमी को 'रिक्ता' तिथि बताया गया है।" रिक्ता अर्थात् खाली तिथि। इसमें कोई शुभ कार्य नहीं करना चाहिये। नवमी ने कहा – "मुझमें तो कोई विशेषता नहीं है, मैं रिक्ता हूँ।" भगवान बोले – "तो चलो, तुम खाली हो, तो मैं तुम्हीं में जन्म लूँगा, जो भरे हुये हैं, उनमें आने की मुझे जरूरत ही क्या है?"

जहाँ अभाव है, वहीं ईश्वर स्वयं आविर्भूत होते हैं, प्रकट होते हैं। गोस्वामीजी के ग्रन्थों में एक है 'गीतावली रामायण'। बड़ा भावपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें गोस्वामीजी ने लिखा है – श्रीराम आये हुये हैं और एक भावमयी जनकपुर-वासिनी स्त्री उनके दर्शन करने जा रही है। उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं। सखी ने आश्चर्य से पूछा – तुम ये आँसू क्यों बहा रही हो? बड़ी मधुर बात है। उसने कहा – "यदि समाचार मिले कि अमृत बँटने वाला है और उसके लिये बर्तन चाहिये, परन्तु बर्तन में खारा जल भरा हुआ हो, तो बुद्धिमान व्यक्ति क्या करेगा? वह खारे जल को फेंककर अमृत ले लेगा। तो अयोध्या से श्रीराम का रूप-सौन्दर्य-अमृत आया हुआ है और मैं उस अमृत को लेने जा रही हूँ। परन्तु मेरे इस नेत्र की कलशी में खारा जल भरा हुआ है, तो उस अमृत को रखा कहाँ जायेगा? अत: यदि वह रस आँखों में लेना है, तो उसे खाली करना होगा। सखी, यदि तू भी उस रस को ग्रहण करना चाहती है, तो जरा अपनी कलशी को खाली कर ले –

साँवर रूप सुधा भरिवे कँह
नैन कमल कल कलस रितौली ।।

कलशी खाली होगी, तभी तो उसमें अमृत भरेगा। बड़ी मधुर बात है। भक्त रोते क्यों है? जब सखी ने पुष्प-वाटिका में श्रीराम का दर्शन किया और लौटकर आई, तो उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। एक सखी ने कहा – मैंने तो सुना था कि सुन्दरता का अमृत ग्रहण करने के लिये नेत्र की कलशी को खाली करना चाहिये, पर तुम तो दर्शन करके आ रही हो, अब आँसू क्यों बहा रही हो? उसने कहा – यह पुराने आँसूवाला जल नहीं है। – तो? बोली – पहले तो मैंने बर्तन खाली कर दिया और जब भगवान के रूप का अमृत भरा; अब यदि बर्तन छोटा हो और अमृत अधिक हो, तो वह बाहर छलकेगा या नहीं? तो भगवान के सौन्दर्य का यह जो

अमृत है, वही मानो उस भावमयी सखी के आँखों से छलक रहा है। तो इस प्रकार भाव और अभाव के वस्तुत: ये चार मार्ग हैं। भगवान श्रीरामकृष्ण ने इन चारों भावों की सार्थकता अपने जीवन और चरित्र में प्रगट की, आपने उनके जीवन को बड़े विस्तार से पढ़ा होगा, उसका आनन्द लिया होगा।

परन्तु हनुमानजी के चरित्र में क्या है? हनुमानजी ज्ञानियों के आचार्य हैं, या भक्तों के आचार्य हैं, या कर्मयोगियों के आचार्य हैं, या फिर दीनों के आचार्य हैं? इसका उत्तर यह है कि हनुमानजी के चरित्र में आपको चारों योगों की पूर्णता मिलेगी। ज्ञानियों के लिये वे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हैं, भक्तों के लिये वे महान् भक्त हैं, कर्मयोगियों के लिये वे महान् कर्मयोगी हैं और दीनों के लिये तो उनसे बड़ा कोई दीन है ही नहीं। हनुमानजी यदि शंकरजी के अवतार हैं, तो भगवान राम से उनमें कोई भिन्नता नहीं। और यदि हनुमानजी भगवान राम को जानते हैं, तो रामायण में सूत्र है – प्रभु को जानने वाला प्रभु से अभिन्न हो जाता है –

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।। २/१२७/३

तो शिवरूप में भी हनुमानजी भगवान राम से अभिन्न हैं। और प्रभु को जब एक क्षण में वे ब्रह्म के रूप में पहचान लेते हैं, तो वे साक्षात् उन्हीं के रूप हो चुके हैं – **ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति**। परन्तु परिचय पूछे जाने पर जिन शब्दों में उन्होंने अपना परिचय दिया, उनमें न तो ज्ञान की भाषा थी, न भक्ति की और न कर्म की। कौन-सी भाषा थी? बोले – प्रभो, मैं मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल-हृदय हूँ, अज्ञानी हूँ –

एकु मन्द मैं मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।। ४/२

जिन चार शब्दों में हनुमानजी ने अपना परिचय दिया, उन्हें कोई ज्ञानी अपने लिये क्यों कहेगा? भक्त कह सकता है, पर वह भक्त भी यही कहेगा कि प्रभु मैं आपके नाम का जप करता हूँ, आपका ध्यान करता हूँ, आपकी भक्ति करता हूँ। कर्मयोगी के लिये तो वह शब्द लगेगा ही नहीं। कुछ लोगों ने तो लिखा कि तुलसीदास ने देश को कायरता का पाठ पढ़ा दिया। कहाँ वेद-मंत्रों में तेजस्विता की भाषा है, तुम साक्षात् ब्रह्म के अंश हो, साक्षात् ब्रह्म-रूप हो –

चिदानन्द-रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

और कहाँ इन्होंने इतना दीन-हीन पापी बता दिया ! यह तो व्यक्ति को नीचे गिरानेवाली बात है। लेकिन मुझे इन बुद्धिमानों की बातें सुनकर बड़ी हँसी आती है। उन्होंने दीन बनाने की चेष्टा नहीं की। दीनता, यह कोई बनाने की चेष्टा से नहीं आती। ज्ञानी, भक्ति और कर्मयोगी के लिये ज्ञान, भक्ति और कर्म तो महान् हैं ही, परन्तु यदि किसी के स्वभाव में दीनता है, तो प्रश्न यह नहीं कि दीनता अच्छी है या बुरी।

यदि कोई कहे कि डरना अच्छा नहीं है, तो यह बात बिलकुल ठीक है। परन्तु यदि कोई स्वभाव से ही डरपोक हो तो? आप कहेंगे कि डर को छोड़ दे। परन्तु आपके कह देने भर से तो कोई डर छोड़ नहीं सकता। तो गोस्वामीजी किसी को डरपोक नहीं बनाते, किसी को कायर नहीं बनाते, किसी को हीनता का पाठ नहीं पढ़ाते। परन्तु यदि किसी में वह हीनता या दीनता की वृत्ति है, यदि किसी व्यक्ति में भय है, तो गोस्वामीजी यह नहीं कहते कि बिना निर्भय बने काम नहीं चलेगा। वे कहते हैं कि यदि अभय है, तो उसका सदुपयोग करें और यदि भय है तो उसका भी सदुपयोग करें।

गोस्वामीजी से पूछा गया – आप ज्ञानी हैं, या भक्त या कर्मयोगी है? उन्होंने कहा – क्या बताऊँ, जब मैं कर्मयोगियों के पास गया और उन्होंने मेरे गले में तुलसी की माला-कण्ठी देखी, तो कहने लगे – यह कण्ठी-माला धारण करने वाला कर्मयोग क्या जाने ! तुम हमारे पास बैठने योग्य नहीं हो। पूछा – फिर? बोले – ज्ञानियों के यहाँ गया, तो उन्होंने भी कहा कि यह ज्ञान का अधिकारी नहीं है, इसमें ज्ञान की योग्यता नहीं है। – तब तो आप भक्तों के पास गये होंगे? उन्होंने कहा – "भक्तों के पास इसलिये नहीं गया कि भक्ति के जितने लक्षण बताये गये हैं, उन्हें मिलाकर देख लिया कि उनमें से एक भी मुझमें नहीं है। वहाँ जाऊँ और वहाँ से भी निकाला जाऊँ, तो इससे अच्छा मैं गया ही नहीं।" – जब आपमें ज्ञान, भक्ति, कर्म – कुछ भी नहीं है, तब तो आपको भगवान नहीं मिले होंगे? वे बोले – ज्ञानी, भक्त और कर्म-योगियों के पास तो नहीं गया, पर भगवान को मैंने पा लिया। – कैसे पा लिया? 'दोहावली' में वे कहते हैं – मैं तो दीन होकर भगवान के द्वार पर चला गया –

करम कठमलिया कहैं ग्यानी ग्यान बिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाइगो, राम दुवारे दीन ।। ९९

कितनी बढ़िया बात है ! दीन होने में एक आनन्द है, पर यदि आप दीन नहीं हैं, तो दीन बनने की चेष्टा बिल्कुल मत करिये। आप जो हैं, उसी का सदुपयोग कीजिये। मैं आग्रह नहीं करता कि आप दीन ही बन जायँ, डरपोक बन जायँ; आप निर्भय हैं, तो बड़ी अच्छी बात है। पर गोस्वामीजी ने जो बात कही, वह बड़ी मधुर है। उन्होंने कहा – दीन को जो एक लाभ है, वह इन तीनों को नहीं है। हनुमानजी सबके आचार्य हैं। वे ज्ञानी, भक्त, कर्मयोगी और दीन – सबको भगवान से मिलाते हैं। विभीषण जब भगवान के यहाँ आये, तो किस मार्ग से आये? – दीनता के मार्ग से। जब वे आये, तो भगवान पूछ सकते हैं – कैसे आये? उन्होंने स्पष्ट कह दिया – अपने कानों से आपका यश सुनकर आया हूँ –

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि-त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ।। ५/४५

कह सकते थे – आपका यश जानकर आया हूँ, परन्तु नहीं, उन्होंने कहा – यश सुनकर आया हूँ। संकेत बड़ा मधुर था। उन्होंने हनुमानजी की ओर देखा कि यदि आपके मन में यह प्रश्न हो कि ये क्यों आये हैं, तो उन हनुमान से पूछिये, जो आपके चरणों में बैठे हुये हैं कि उन्होंने मुझसे आपके विषय में क्या-क्या कहा है ! महाराज, मैं तो पढ़कर नहीं आया, जानकर भी नहीं आया, मैं तो अपने कानों से सुनकर आया हूँ कि प्रभु भव-भय का नाश करने वाले, दुखियों के दु:ख दूर करनेवाले और शरणागत को सुख देनेवाले हैं।

हनुमानजी के चरित्र में आपको एक अद्‌भुत बात मिलेगी। वे सुग्रीव का भी प्रबोधन करते हैं, बन्दरों को भी धन्य बनाते हैं, विभीषण को भी सन्देश देते हैं, किशोरीजी को भी सन्देश देते हैं और साक्षात् भरतजी को भी सन्देश देते हैं। ये जो विभिन्न प्रकार के पात्र हैं और हनुमानजी जिनसे भी मिलते हैं, कोई कहता है – ये शंकर के रूप हैं, कोई कहता है – ये पवन-पुत्र हैं, पर हनुमानजी तो सभी रूपों में सबको स्वीकार्य हैं। जब वे विभीषण से मिले तो क्या बनकर मिले?

विभीषण ने पूछा – आप आये तो हैं, पर प्रभु क्या मुझ पर कृपा करेंगे? इस पर हनुमानजी ने उन्हें अपनी ओर दिखाया और बोले – मुझे देखने के बाद भी क्या यह प्रश्न करना उचित है? हनुमानजी ने यह नहीं कहा कि मैं शंकर का अवतार हूँ या पवन का पुत्र हूँ। बोले – जब तुम देख रहे हो कि मैं बन्दर हूँ – मैंने बन्दर होकर भी प्रभु को पा लिया और तुम पूछते हो कि मैं पा सकता हूँ या नहीं? वे बन्दर बनकर जो दीन-हीन हैं, मानो उनको भी भरोसा दिलाते हैं और विभीषणजी से तो उन्होंने यही कहा – मेरा बन्दर का शरीर है और तुम जानते हो, सबेरे-सबेरे यदि कोई मेरा नाम ले ले, तो दिन भर उसको भोजन ही न मिले –

कहहु कवन मैं परम कुलीना ।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ।।
प्रात लेइ जो नाम हमारा ।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ।। ५/७/७-८

आप मत डरियेगा कि हनुमानजी का नाम लेने से आपको आहार नहीं मिलेगा, आराम से नाम लीजिये। पर वह तो उनकी दीनता की दृष्टि है। बन्दर को अशुभ माना जाता है –

असुभ होत जिन्हके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ।
(विनय-पत्रिका, १६६)

हनुमानजी के बन्दर बनने के उद्देश्य कई हैं। दो उद्देश्यों की चर्चा पहले हो चुकी है, एक उद्देश्य और है। हनुमानजी जान-बूझकर सुन्दर नहीं बने। किसी को कुरूप कहना चाहें, तो उसकी तुलना बन्दर से की जाती है कि इसकी आकृति तो बन्दर की तरह है। तो हनुमानजी बन्दर बने और उनके बन्दर बनने का तीसरा उद्देश्य क्या था?

जब वे अशोक वृक्ष पर बैठकर सीताजी को कथा सुनाने लगे, तो कथा इतनी मधुर थी कि सीताजी के सारे दु:ख दूर हो गये। वे कान और मन लगाकर कथा सुनने लगीं और हनुमानजी ने आदि से अन्त तक सारी कथा सुनाई –

रामचंद्र गुन बरनैं लागा ।
सुनतहिं सीता कर दुख भागा ।।
लागीं सुनैं श्रवन मन लाई ।
आदिहु तें सब कथा सुनाई ।। ५/१३/५-६

जब कथा समाप्त हुई, तो माँ ने पुकार कर कहा – इतनी मधुर कथा जिसने सुनाई, वह सामने क्यों नहीं आता –

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई ।
कही सो प्रगट होति किन भाई ।। ५/१३/७

हनुमानजी सामने आ गये और जान-बूझकर सीताजी के सामने बन्दर के वेश में ही ऊपर से कूद पड़े। वे चाहते, तो कोई भी रूप बना सकते थे, ब्राह्मण के वेश में भी आ सकते थे, पर ब्राह्मण के वेश में नहीं आये और ज्योंही बन्दर के रूप में कूदे, तो माँ ने मुँह फेर लिया, हनुमानजी की ओर पीठ कर दिया। किसी वक्ता को आप बुलायें और उसकी ओर पीठ करके बैठ जायें, फिर देखिये उसका रूप, उसका क्रोध – आप मेरा अपमान करते हैं? माँ ने स्वयं कहा था – कथा सुनानेवाला सामने क्यों नहीं आता। पर जब वे हनुमानजी की ओर पीठ करके बैठ गयीं, तो वे गद्‌गद हो गये। बोले – बस, सचमुच कथा का उद्देश्य पूरा हो गया। – उद्देश्य क्या था? उन्होंने माँ से यही कहा कि माँ आपने जीव को कितना विलक्षण सन्देश दिया – जब आया, तो मुँह फेर लिया, मुझे देखना पसन्द नहीं किया, मेरी ओर पीठ करके बैठ गईं। इस प्रकार आपने बता दिया कि सुन्दर तो प्रभु की कथा ही है, कथावाचक तो बन्दर ही है, उसकी ओर क्या देखना ! देखना तो चाहिये प्रभु के रूप की ओर, प्रभु के गुण की ओर। हनुमानजी बन्दर बनकर यह चाहते हैं कोई मुझे देखकर मेरी ओर आकर्षित न हो; एक बार देख ले तो दुबारा देखना ही न चाहे। कोई सुन्दर होता है, तो उसे हम बार-बार देखना चाहते हैं, उसके प्रति आकर्षित होते हैं। हनुमानजी चाहते हैं कि लोग प्रभु की ओर, प्रभु-कथा की ओर आकर्षित हों, कथावाचक की ओर नहीं, इसीलिये वे बन्दर का रूप बनाये हुये हैं और बन्दर बनने का एक तात्पर्य और है जो उन्होंने विभीषणजी से कहा – जो सबेरे-सबेरे मेरा नाम ले ले, उसको दिन भर भोजन न मिले। इसका भी अर्थ यही था कि नाम हमारे प्रभु का ही लो, रूप देखना हो तो हमारे प्रभु का देखो। जब विभीषण जी ने कहा – आप अपना परिचय क्यों नहीं दे रहें हैं, कुछ तो बता दीजिये? तब उन्होंने क्या किया – सारी रामकथा सुनाने के बाद अपना नाम लिया –

तब हनुमन्त कही सब रामकथा निजनाम ।। ५/६

विभीषण कहते हैं – अपनी कथा सुनाइये और हनुमानजी ने प्रभु की कथा सुनाई। इसका अभिप्राय यह है कि बन्दर की क्या कथा होगी ! बस, एक डाली से दूसरी डाली, दूसरी से तीसरी – इतनी ही तो बन्दर की कथा है। वैसे हनुमानजी की कथा तो प्रभु से भी अधिक चमत्कार वाली है, पर उन्होंने एक बार भी नहीं सुनाई। बन्दर की क्या कथा ! कथा तो प्रभु की होती है। हनुमानजी मानो यही चाहते हैं कि कोई सुने तो प्रभु की ही कथा सुने, नाम ले तो प्रभु का ही नाम ले, रूप देखे तो प्रभु का ही देखे। वे मानो यह बता देना चाहते हैं और उनका उद्देश्य यही है कि एकमात्र ईश्वर को छोड़कर अन्यत्र कहीं दृष्टि डालने की आवश्यकता ही नहीं है। इसीलिये जब विभीषण ने पूछा कि प्रभु मुझ पर कृपा करेंगे कि नहीं? तो उन्होंने अपनी ओर दिखा दिया, और कहा – मैं कितना अधम हूँ, तो भी रघुवीर ने मुझ पर कृपा की –

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर ।। ५/७

हनुमानजी साक्षात् शिव हैं, भगवान के अभिन्न रूप हैं, पर उन्होंने स्वयं को अधम कह दिया और साथ ही कृपा शब्द का प्रयोग किया। इस कृपा की आवश्यकता किसी-न-किसी मात्रा में ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी को भी है, परन्तु दीन के लिये तो कृपा छोड़कर और कोई शब्द है ही नहीं। इसीलिये हनुमानजी बोले – प्रभु ने मुझ पर कितनी कृपा की। बस – 'कीन्ही कृपा' – इतना कहकर बोलना बन्द कर दिया, कथा कहना समाप्त कर दिया। उनकी आँखों में आँसू आ गये और वे चुप हो गये। यह दृश्य विभीषण को इतना प्रभावित कर देता है कि इसी आश्वासन के बल से एक दिन वे स्वयं भगवान की शरण में आ गये। इसीलिये प्रभु ने जब पूछा – आप कैसे आये? तो उन्होंने संकेत में कहा – सन्त के मुख से आपका यश सुना तो उस पर विश्वास करके चला आया। विभीषण की भाषा में दीनता का स्वर था।

प्रभु ने पूछा कि जब तुम ज्ञानी भी नहीं हो, भक्त भी नहीं हो, तो फिर मेरे पास क्यों आये? क्योंकि उन्होंने अपना यही तो परिचय दिया था – रावण का तो भाई हूँ और निशाचर वंश में मेरा जन्म हुआ है। मैं निशाचर हूँ अर्थात् रात का, अन्धकार का प्रेमी हूँ, अत: मैं ज्ञानी नहीं हो सकता। और जब मैं किशोरीजी का हरण करनेवाले रावण का भाई हूँ, तो मैं भक्त भी नहीं हो सकता। फिर पापी भी इतना हूँ कि जिस प्रकार उल्लू को अन्धकार प्रिय लगता है, उसी प्रकार मुझे पाप प्रिय लगता है –

नाथ दसानन कर मैं भ्राता ।
निसिचर बंस जनम सुरत्राता ।।
सहज पापप्रिय तामस देहा ।
जथा उलूकहि तम पर नेहा ।। ५/४५/७-८

अत: मैं न तो कर्मयोगी, न ज्ञानी, न भक्त और न योगी ही हूँ। भगवान ने मुस्कुराते हुए पूछा – "पहले तो मैं तुम्हारी ज्ञान, भक्ति या कर्म में परीक्षा लेने की सोच रहा था, क्योंकि परीक्षा इन्हीं में तो ली जाती है। मगर जब तुम इन तीनों से मना कर रहे हो, तो अब मैं क्या करूँ?"

दीन के पास यही सुविधा है। विभीषण बोले – महाराज, ज्ञानी, भक्त या कर्मयोगी होता, तो आप परीक्षा लेते, पर मैं कुछ नहीं हूँ। – तो यहाँ क्यों आये? बोले – मैं तो आपकी परीक्षा लेने आया हूँ कि आपके विषय में सन्तों ने जो कहा है, वह सत्य है या नहीं। परीक्षा आपको देनी है, मुझे नहीं।

दीन के लिये दीनता बड़ी लाभदायक बन जाती है। यह मत समझ लीजियेगा कि गोस्वामीजी ने समाज को दीन बना दिया। वे स्वयं दीन थे, लेकिन बादशाह अकबर ने बुलाया, तो भी नहीं गये। क्या आपने दीन के रूप में ऐसा कोई भिखारी देखा है, जो राजा के बुलाने पर भी न जाये? किसी ने पूछ दिया – "देश के राजा ने बुलाया और आप नहीं गये? आप तो बार-बार कहते थे – मैं बड़ा दीन हूँ। तो क्या राजा के बुलाने पर दीन नहीं जायेगा? गोस्वामीजी ने कहा – दीन तो मैं हूँ, परन्तु अपनी दीनता मैं केवल राम को ही सुनाऊँगा, अन्य किसी को भी नहीं –

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर ।
द्वार दूसरे दीनता तुलसी उचित न तोर ।। दोहा. ५४

यदि कोई ऐसा दीन हो, तो उससे बढ़कर अदीन कौन होगा? जिसको देश के राजा से भी भय नहीं लगता है। इसे ठीक-ठीक न समझने के कारण कभी-कभी लोग सोच लेते हैं कि अपने को पापी, अधम कह देना ही दैन्य है। दैन्य का अभिप्राय यह है कि हमारी जो वृत्तियाँ हैं, आप वस्तुत: जो हैं, आपको जैसा लग रहा है, उसका सदुपयोग करें।

हनुमानजी और श्रीरामकृष्ण के कुछ महान् भक्तों ने इस दैन्य का उपयोग किया। श्रीरामकृष्ण के उन भक्तों मे से कुछ आपको ऐसे मिलेंगे, जिनका चरित्र पढ़कर आश्चर्य होता है कि ऐसे व्यक्ति कृपापात्र कैसे बन गये?

❖ (क्रमशः) ❖

विकास ही जीवन है

स्वामी आत्मानन्द

विकास जीवन का नियम है; बल्कि स्वामी विवेकानन्द तो विकास को ही जीवन कहते हैं तथा संकोच को मृत्यु। विकास की प्रक्रिया ही जीवन के स्पन्दन को बनाये रखती है। यह प्रक्रिया तीन प्रकार के संघर्षों से होकर गुजरती है। हर व्यक्ति को अपने जीवन में ये विविध संघर्ष झेलने पड़ते हैं – एक है मनुष्य का प्रकृति से संघर्ष, दूसरा है उसका मनुष्य के साथ संघर्ष और तीसरा है उसका स्वयं के साथ संघर्ष। पहले संघर्ष से सफलतापूर्वक जूझने के लिए भौतिक विज्ञान हमारा सहायक होता है, दूसरे संघर्ष में विजयी होने के लिए हम समाज-विज्ञान से मदद लेते हैं और तीसरे संघर्ष में जयी होने के लिए हम मनोविज्ञान, धर्मविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान से सहायता ले सकते हैं। इन तीनों विज्ञानों का उचित सन्तुलन और समन्वय हमारी विकास-प्रक्रिया को द्रुत कर देता है।

प्रसिद्ध जीवविज्ञानी सर जूलियन हक्सले के मतानुसार विकास के तीन स्तर होते हैं – Physical, Mental or Intellectual तथा Psycho-social अर्थात् शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक तथा मनो-सामाजिक। शारीरिक विकास की बात हम समझते हैं। जब बच्चा जन्म लेता है, तब उसकी ऊँचाई करीब १५ इंच और वजन ३ किलोग्राम होता है। वही जब ४० वर्ष का प्रौढ़ होता है, तो ऊँचाई शायद ६ फुट और वजन ८० किलोग्राम हो जाता है। यह शारीरिक विकास है। वैसे ही मानसिक या बौद्धिक विकास भी बोधगम्य है। शिशु जब धीरे धीरे विकसित होकर शैशवावस्था को पार करता हुआ कैशोर्य और यौवन में पहुँचता है, तब उसका मानसिक और बौद्धिक विकास भी साथ साथ सधता दिखाई देता है। यदि शारीरिक विकास तो हो, पर मानसिक विकास न हो, तो हम बालक को असामान्य कहते हैं और उसकी चिकित्सा कराते हैं।

अतएव मानसिक और बौद्धिक विकास भी हमें समझ में आता है। पर विकास का जो तीसरा स्तर मनो-सामाजिक कहकर पुकारा गया है, उसकी धारणा सामान्यतः हमें नहीं होती। हक्सले कहते हैं कि तीसरा स्तर ही मनुष्य को पशु से भिन्न बनाता है। पशु में शारीरिक और मानसिक विकास के स्तर होते हैं, पर मनो-सामाजिक विकास केवल मनुष्य का गुण है। विकास के इस तीसरे स्तर को यों समझें –

एक छोटा बच्चा केवल अपने लिए जीता है, उसे माता-पिता, भाई-बहन किसी की परवाह नहीं होती। उसे अपनी सुविधा, अपना सुख चाहिए। वह पाठशाला से लौटा। देखा - माँ खाट पर पड़ी हुई है। रोज उसके लौटते ही माँ उसे भोजन कराती थी। आज उसे लेटे देखकर वह बस्ता फेंकते हुए कहता है – "माँ, उठो न, चलो खाना दो। माँ यदि कह दे – बेटा, मुझे बुखार है, अंग अंग टूट रहा है, उठा नहीं जा रहा है, तू वहाँ से खाने की चीजें निकाल ले", तो वह हाथ-पैर पटककर, मचलकर रोता है कि "उठो, खाना दो।" तब तक वह चिल्लाता रहेगा, जब तक माँ उठकर नहीं देगी। यह बच्चा केवल अपने लिए जीता है, दूसरे का दुःख-दर्द उसके स्वार्थ के आगे कोई माने नहीं रखता। पर यही लड़का जब कुछ बड़ा होता है और एक दिन विद्यालय से लौटने पर माँ को खाट में पड़े देखता है, तो वह माँ के माथे पर हाथ लगाकर देखता है कि बुखार तो नहीं है? पूछता है – "माँ, कैसी हो?" और माँ उसे खाना देने के लिए उठना चाहे तो मना करता है। कहता है – "लेटी रहो, मुझे बता दो मैं सब कर लूँगा, मैं खाना भी बना लूँगा।" वह डाक्टर के यहाँ से दवा ले आता है, माँ का शरीर दबा देता है। माँ का दुःख-दर्द अब उसका स्वयं का दुःख-दर्द बन गया। यही मनो-सामाजिक विकास है। हम कहते हैं कि लड़के का मनो-सामाजिक विकास हुआ है। यह विकास हमें स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठाकर दूसरे की पीड़ा का अनुभव करने में समर्थ बनाता है। हक्सले इस तीसरे विकास से युक्त व्यक्ति को Person यानि व्यक्ति कहते हैं। जिसमें मनो-सामाजिक विकास नहीं हुआ है, वह मात्र individual यानि व्यष्टि है। वे Person और individual का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "Persons are individuals who transcend their merely organic individuality in conscious participation." – अर्थात् व्यक्ति वे व्यष्टि हैं, जो समूह में ज्ञानपूर्वक भाग लेते हुए मात्र अपने जैविक व्यक्तित्व को लाँघ जाते हैं।

विकास का यह तीसरा स्तर मनुष्य की मनो-सामाजिकता का संवर्धन करता हुआ उसे सही अर्थों में 'मानव' बना देता है तथा उसे दूसरों के लिए जीने की मानसिकता और क्षमता प्रदान करता है। ❑❑❑

भागवत की कथाएँ (१३)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

कृष्ण-बलराम की गुरुदक्षिणा

अवन्तीपुर में सन्दीपनी मुनि निवास करते थे। शिक्षक के रूप में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। कृष्ण-बलराम उनसे शिक्षा प्राप्त करने गये। पूतना-वध, कालिय-दमन, कंस-वध जैसे महान् कर्म करने के बावजूद कृष्ण-बलराम साधारण विद्यार्थी की भाँति ही गुरु सन्दीपनी मुनि की चरण-सेवा तथा उनके प्रति विनम्र व्यवहार करने लगे। एकाग्र चित्त से दोनों ने वेदों का अध्ययन किया। और क्रमशः धर्म, नीतिमार्ग, तर्कशास्त्र, सन्धि-विग्रह आदि छः प्रकार की राजनीतियों और साथ ही समस्त कला-विद्याओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। गुरु-गृह में उन्होंने ६४ दिनों तक वास किया। विद्याओं की शिक्षा समाप्त हुई। बलराम और श्रीकृष्ण ने गुरु से गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ लेने का अनुरोध किया।

सन्दीपनी मुनि क्या गुरु-दक्षिणा चाहेंगे? साक्षात् भगवान ही उनके पास विद्यार्जन हेतु आए थे – यह तो उनका परम सौभाग्य था। मुनि के इकलौते पुत्र की प्रभास क्षेत्र में जाकर मृत्यु हो गयी। बलराम-श्रीकृष्ण में यदि शक्ति हो, तो उनके प्राणोपम उस पुत्र को वापस ले आयें। अपनी पत्नी के साथ सलाह करने के बाद मुनि ने यही दक्षिणा माँगी।

मुनि की मनोकामना पूरी करने हेतु कृष्ण-बलराम प्रभास तीर्थ गए। प्रभास तीर्थ समुद्र-तट पर है। समुद्र समझ गया कि साक्षात् भगवान ही उसके पास आए हैं। उसने आकर कृष्ण-बलराम के प्रति श्रद्धा अर्पित की। श्रीकृष्ण बोले – "हे समुद्र! तुमने अपनी विशाल तरंगों में मेरे गुरुपुत्र को निगल लिया है। उसे हमें वापस कर दो।" समुद्र ने कहा – "आपके गुरुपुत्र का भक्षण मैंने नहीं किया है। पंचजन नामक एक राक्षस शंख का रूप धारण करके मेरे जल के भीतर निवास करता है। उसी ने बालक का भक्षण किया है।"

कृष्ण तत्काल समुद्र में पैठ गए तथा पंचजन का वध कर दिया। पर उसके पेट के अन्दर उन्हें बालक नहीं मिला। राक्षस के शरीर से बने पांचजन्य नामक शंख को लेकर वे लौट आए। अब वे बलराम के साथ यमपुरी को चले। वहाँ घोर नाद करते हुए उन्होंने अपना पांचजन्य शंख बजाया। यमराज दौड़े आए। कहा – "प्रभो! आप दोनों साक्षात् विष्णु के अवतार हैं। अपनी लीला का प्रसार करने के लिए आप धराधाम में अवतरित हुए हैं। कहिए, आप लोगों का प्रयोजन क्या है?" भगवान बोले – "अपने कर्मफल से मेरे गुरुपुत्र की मृत्यु हुई और उसे आप ले आये हैं। मेरी आज्ञा है कि आप उसे लौटा दें। यमराज ने श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य की और उनके गुरुपुत्र को जीवित कर दिया।

कृष्ण-बलराम ने गुरु को उनकी प्रिय सन्तान सौंप दिया। दिवंगत पुत्र को वापस पाकर गुरु तथा गुरुपत्नी ने कृष्ण-बलराम को बहुत आशीर्वाद दिये। सन्दीपनी मुनि के आशीर्वाद को शीश पर धारण कर दोनों भाई मथुरा लौट आए। मथुरावासी उन दोनों को पाकर बड़े आनन्दित हुए।

उद्धव का व्रजधाम-गमन तथा गोपियों की उलाहना

श्रीकृष्ण गुरुगृह से शिक्षा पाकर लौट आए थे। वे मथुरा में अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। इधर व्रजधाम में गोपियाँ उनके विरह में कातर हो रही हैं। माँ यशोदा और नन्द राजा अपनी आँखों के रत्न कृष्ण-बलराम को देखने के लिए व्याकुल हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण ने उद्धव को दूत बनाकर व्रजधाम भेजा।

अनेक प्रकार के रत्नों से सज्जित रथ पर सवार होकर उद्धव व्रजभूमि में पधारे। व्रजराज नन्द ने उनका सप्रेम स्वागत-सत्कार किया और पूछा – "क्या श्रीकृष्ण हम लोगों को याद करते हैं? गोविन्द अपने स्वजनों से मिलने कब आ रहे हैं? उनकी याद करके हम लोगों के अन्य सारे कार्य अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। मुझे लगता है कि गर्ग मुनि ने जो महान् भविष्यवाणी की थी कि बलराम और कृष्ण – ये दो देवता पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं, वह अक्षरशः सत्य है। कंस के समान शक्तिशाली राजा को, चाणूर के समान वीर

पहलवान को उन्होंने कुत्ते-बिल्ली की भाँति मार डाला। जैसे हाथी एक ईंख को उखाड़कर तोड़ डालता है, वैसे ही कृष्ण ने धनुर्यज्ञ के विशाल धनुष को टुकड़े-टुकड़े कर डाला। अपने बायें हाथ से सात दिनों तक गोवर्धन गिरि को धारण कर इन्द्र की रोषपूर्ण वर्षा से हम लोगों की रक्षा की।''

कृष्ण की चर्चा में उद्धव और राजा नन्द की प्राय: सारी रात कट गयी। सुबह हुई। उद्धव को देखने के लिए व्रज की गोपिकाओं ने भीड़ लगा दी। वे बोलीं – ''तुम श्रीकृष्ण के सेवक हो, यह तो हम समझ गयीं। निश्चय ही उन्होंने तुम्हें अपने माता-पिता का समाचार लेने के लिए भेजा है। हमारी बात तो वे निश्चय ही भूल गए हैं। याद रखने की जरूरत भी क्या है? उद्देश्य पूरा हो जाने पर प्रजा राजा को त्याग देती है, शिष्य गुरु को त्याग देता है और (दक्षिणा मिल जाने पर) पुरोहित यजमान को छोड़ देता है। पक्षीगण फल से रहित वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं। भोजन समाप्त हो जाने पर अतिथि विदा ले लेता है। अत: कृष्ण हमें छोड़ देंगे – इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है!''

उद्धव ने गोपियों को सांत्वना देते हुए कहा – ''तुम लोगों के मन-प्राण स्वयं भगवान श्रीकृष्ण में अर्पित हैं। तुम लोग हम सबकी पूज्य हो। याग-यज्ञ, जप-तप कर मुनिगण जो भक्ति नहीं पाते, तुम लोगों ने सौभाग्यवश अनायास ही श्रीकृष्ण की वह भक्ति प्राप्त कर ली है। जन्म-जन्मान्तर के भाग्य के बल से ही तुम लोगों ने सब कुछ खोकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का वरण किया है। तुम लोगों के समान भाग्यवती और कौन है? मैं तुम्हारे प्रियतम के पास से कुछ सन्देश लाया हूँ। वह तुम्हें बताता हूँ। श्री भगवान ने कहा है –

'तुम लोगों से मेरा कभी वियोग नहीं हो सकता; मैं सब की आत्मा हूँ। मैं अपनी माया के द्वारा ही स्वयं की सृष्टि और संहार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं तुम लोगों की आँखों का तारा हूँ, तो भी जो मैं तुम लोगों से दूर रह रहा हूँ, उसका एक उद्देश्य है। मुझे न देख पाकर तुम सभी मेरा स्मरण-चिन्तन करोगी, नियमित रूप से मेरा ध्यान करोगी। ध्यान के द्वारा मुझसे तुम लोगों का मिलन होगा।'

व्रज-नारियाँ अपने प्रियतम का सन्देश सुनकर आनन्दित हुईं। उनमें प्रेम उत्पन्न करने हेतु उद्धव ने कई महीनों तक व्रजधाम में निवास किया। गोपियों की भक्ति देखकर उनकी आँखें खुल गयीं। वे सोचने लगे – इसी को अहेतुकी भक्ति कहते हैं! हम श्रीकृष्ण के संगी हैं, उन्हें पाने के इच्छुक हैं, किन्तु पाते नहीं। और ये वनवासिनी कृष्ण की प्रेमिकाएँ! रास-उत्सव में भगवान श्रीकृष्ण इन सबकी मनो-कामना पूर्ण करते हैं। मैं यदि ब्रज-गोपियों के चरणों की धूलि का स्पर्श करने योग्य हो सकूँ, तो स्वयं को भाग्यवान समझूँगा। मैं इन गोपियों के चरणों में बारम्बार वन्दना करता हूँ।''[१]

हस्तिनापुर का समाचार

श्रीकृष्ण पाण्डवों के निकट सम्बन्धी थे। एक दिन वे अक्रूर से बोले – ''बहुत दिनों से मुझे पाण्डवों का कोई समाचार नहीं मिला। राजा पाण्डु की मृत्यु के बाद से पाण्डव लोग अपनी दु:खिनी माता के साथ बड़े कष्ट में हैं। अन्धे राजा धृतराष्ट्र उन सब के साथ अच्छा व्यवहार नहीं कर रहे हैं। तुम हस्तिनापुर जाकर सभी समाचार ले आओ।''

अक्रूर हस्तिनापुर जाकर पाण्डवों से मिले। कुन्ती ने रोते हुए अपने भाई अक्रूर से कहा – ''मेरे मायके के लोग और श्रीकृष्ण क्या मुझे भूल गए हैं? पिता-विहीन बालकों के साथ मैं कितनी असहाय हो गयी हूँ, इसे क्या तुम लोग नहीं जानते?'' अक्रूर ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा – ''पाण्डव भाई देवताओं द्वारा रक्षित हैं। कोई भी पाण्डवों का नुकसान या अहित नहीं कर सकेगा।'' इसके बाद अक्रूर धृतराष्ट्र के पास गए और उन्हें समझाते हुए बोले – ''आप धर्म के अनुसार पृथ्वी का पालन तथा प्रजाजनों को सुख-सन्तोष प्रदान करें और कुटुम्बजनों के प्रति समानता का व्यवहार करें। ऐसा होने पर ही आपका यश फैलेगा और आपका भी कल्याण होगा। विचार कर देखिए – अपने शरीर तक के साथ अपना सम्बन्ध स्थायी नहीं है। पुत्र आदि के साथ तो कितना कम सम्बन्ध है! जीव अकेला ही जन्म-ग्रहण करता है और अकेला ही मृत्यु को वरण करता है। वह न किसी को साथ आता है और न किसी को साथ लेकर जाता है।''

धृतराष्ट्र ने कहा – ''हे श्रेष्ठ दानी, तुम परम दयालु हो। तुम मथुरा में अनेक लोगों को अन्न-दान देकर उनकी भूख मिटाते हो। आज तुमने मुझे ज्ञान-दान देकर, मुझ पर बड़ी कृपा की है। तुम्हारी बातें बहुत ही सुन्दर हैं; उन्हें और भी सुनने की इच्छा होती है। पर पुत्रों के प्रति आसक्ति के कारण मेरा चित्त विभ्रान्त हो गया है। यह मोह भी उन्हीं का विधान है, जिन्होंने पृथ्वी का भार हरने के लिये अवतार लिया है।''

अक्रूर धृतराष्ट्र के मनोभाव को समझ गए। वे समझ गए कि कौरव-पाण्डव का युद्ध अनिवार्य है।

उन्होंने यदुपुरी लौटकर श्रीकृष्ण को सारी बातें बता दीं।

१. अहा! गोपियों का कैसा प्रेम था! ... उस प्रेम का एक बूँद भी यदि किसी को हो! कैसा अनुराग! कैसा प्रेम! सिर्फ सोलह आने अनुराग नहीं, पाँच चवन्नी और पाँच आने। प्रेमोन्माद इसी को कहते है। (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ५१५)

आत्माराम के संस्मरण (३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

बाबू महेन्द्रनाथ दत्त से प्रथम भेंट

महिम बाबू के साथ बेलूड़ मठ में रहने का सौभाग्य संन्यासी को मिला था। महाराजगण (स्वामी ब्रह्मानन्द तथा प्रेमानन्द) के साथ ढाका की यात्रा से लौटकर उन दिनों वे मठ में ही निवास कर रहे थे। संन्यासी उस समय ब्रह्मचारी था। उन दिनों उसका कार्य था – प्रतिदिन दोनों समय चाय बनाना, उसके बाद स्वामीजी के कमरे की सफाई करना – खिड़की आदि खोलना ओर सब कुछ सँभाल-कर रखना। ऊपर बाबूराम महाराज का कमरा, राजा महाराज का कमरा, बरामदा, सीढ़ी, नीचे का बरामदा और पास के आम के पेड़ के नीचे तक झाड़ू लगाकर साफ करना। इसके अलावा मठ का आंगन भी झाड़ू लगाकर साफ करना पड़ता था। ग्रन्थालय भी देखना पड़ता था और उसी में मठ का ऑफिस भी था।

बीच में उसे प्रेसीडेंट महाराज का कमरा बना दिया गया था। बाबूराम महाराज ऑफिस में बैठते और ज्ञान महाराज, चपटा नगेन और यह संन्यासी रहता। कभी कोई विशेष कार्य रहा, तो कोई और भी आ जाता था।

महिम बाबू खूब चाय पीते थे। प्रतिदिन यथासमय मुरमुरे के साथ २-३ कप चाय और उसके बाद भी बीच-बीच में मुझसे कहते – "ए भाई, जरा एक कप चाय बना दो न !" गरम पानी तो हमेशा तैयार ही रहता और जलपाईगुड़ी से आया हुआ चाय का एक बड़ा सा बक्सा था। इसलिये रॉ (काली) चाय बनाने में कोई असुविधा न थी। परन्तु दूध और चीनी माप से ही मिलता था, उसके अधिक की जरूरत पड़ने पर बाबूराम महाराज की अनुमति लेनी पड़ती थी। इसलिये रॉ (काली) चाय ही संन्यासी के अधिकार में थी और वही बनाकर वह उन्हें देता। वे उसमें थोड़ा नमक मिलाकर पीते। इसके बाद वे कहते – "तुम भी थोड़ा पीयो न ! यह रॉ चाय पीने में बड़ा अच्छा लगता है। तुम भी चख कर देखो। दूध तो विलासिता है। जिन देशों में चाय का जन्म हुआ है, वहाँ कोई भी दूध डालकर चाय नहीं पीता। चीनी, तिब्बती आदि पूरी मंगोलाइड जातियाँ रॉ चाय पीती हैं। अरब लोग भी रॉ काफी पीते हैं।" मैं भी उनके साथ आधा कप रॉ चाय पीते हुए उनका साथ देता। इसके फलस्वरूप हम दोनों के बीच थोड़ा-सा प्रीति का सम्बन्ध जम उठा था। वैसा चाय वे दिन में दो-तीन बार अलग से पीते।

क्रिसमस का अवसर था। मुझे बाइबिल पढ़ने का आदेश हुआ। शाम को चाय के बाद उसका पाठ होनेवाला था। कुछ भक्त भी वहाँ उपस्थित थे। बाबूराम महाराज को ज्वर हो जाने से उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण, वे ऊपर ही रहे, नीचे नहीं उतरे। चाय पीने के बाद मैं विजिटर्स रूम में बाइबिल पढ़ रहा था। महिम बाबू के उपस्थित रहने से वह खूब जमा था। वे फिलीस्तीन – ईसा का जन्मस्थान आदि का भ्रमण करके उन स्थानों को देख आये थे। भक्तों ने उनसे वहाँ की – उस देश की कुछ बातें सुनाने का अनुरोध किया। उन्होंने मुझसे कहा कि एक कप चाय और पिला दो, तो कथा जमेगी। मैंने यथारीति चाय बनाकर, उन दिनों मठ के सामने के बरामदे में स्थित चाय की मेज पर लाकर रख दिया और स्वयं भी उनका साथ देने लगा। उसी समय बाबूराम महाराज ऊपर से नीचे उतरे।

– "क्यों रे, बाइबिल पढ़ना हो गया?"

उत्तर – "जी, पाठ हो गया है। अब ये कुछ चर्चा करेंगे।" कुछ कहे बिना बाबूराम महाराज ऊपर चले गये। परन्तु बाद में डाँट सुननी पड़ेगी, यह बात हम दोनों ने समझ ली और जल्दी से चाय पीकर विजिटर्स रूम में चले गये।

महिम बाबू ने उस देश की कथा आरम्भ की – ईसा मसीह की कब्र, उसके ऊपर एक विशाल पत्थर है। उस पत्थर का आधा भाग खिसकी हुई अवस्था में अब भी पड़ा

है। उसी को खिसकाकर वे उठे थे या उनका पुनरुत्थान हुआ था। उसके बाद resurection (पुनरुत्थान) पर बातें हुईं, उन्होंने उसका तात्पर्य बताया। उस समय क्या हुआ होगा – उस समय वे प्राण-निरोध करके समाधिस्थ हो गये थे। रोमन सिपाहियों ने सोचा कि वे मर गये हैं। मेरी (मेगडलीन?) सम्भवत: उन्हें शूली पर चढ़ाने के दौरान पूरे समय उपस्थित थीं और बाद में भी शोकातुर होकर बिना कुछ खाये-पीये क्रास (सलीब) के नीचे ही बैठी थी। उसने सिपाहियों को कुछ देकर उनका शरीर माँग लिया। और वे लोग उसे देकर चले गये। इसके बाद बात फैली – "प्रभु बोले – जाओ, सबको बता दो कि मैं पुनरुत्थित हुआ हूँ। देवदूतों ने वह पत्थर हटा दिया था।" इसके बाद उन्होंने सबको दर्शन दिया, केवल थॉमस ही उस समय उपस्थित नहीं था। उसके आने पर सबने उसे बताया – हमारे प्रभु पुनरुत्थित हुए हैं, इसलिये आनन्द मनाओ! उसने नहीं माना, बोला कि स्वयं देखे बिना वह विश्वास नहीं करेगा। तब वे पुन: आविर्भूत हुए और अपना हाथ दिखाकर बोले – यह देखो शुली का घाव। थॉमस ने उस घाव पर अंगुली रखकर देखा और अपनी शंका के लिये क्षमा-याचना की। इसीलिये उन्हें कहा गया – Doubting Thamas (शंकालु थॉमस)। वस्तुत: उस समय वे समाधि से उत्थित हुए थे और रक्त-मांस के व्यक्ति थे, Spirit (अशरीरी) नहीं हुए थे। आदि, आदि। चर्चा बड़ी रोचक चल रही थी। सब लोग एकाग्र भाव से सुन रहे थे। किसी को पता ही न चला कि कब बाबूराम महाराज आकर दरवाजे के बाहर बेंच के एक कोने पर बैठ गये। वह स्थान दरवाजे की आड़ में होने के कारण, यदि उस पर कोई बैठा हो, तो सहज ही दिखता भी न था।

इसके बाद महिम बाबू ने हल्की-फुल्की बातें शुरू करके उन देशों के जीव-जन्तुओं, मनुष्यों की आकृति-विकृति आदि के बारे में बोलने लगे। उसी दौरान उन्होंने ज्योंही कहा – "फिलीस्तीन के चूहे इस देश के सूअर जितने बड़े-बड़े होते हैं।"* बस, बाबूराम महाराज दरवाजे पर खड़े होकर बोले – "क्या कहा महिम! सूअर जितने बड़े चूहे? आँ!"

इसके बाद वे ढाका का प्रसंग उठाकर – इन्होंने (महिम बाबू) वहाँ क्या किया; उनके व्यवहार के विषय में और स्वामीजी के भाई के रूप में परिचय देकर पूज्यपाद महाराजगण की उपस्थिति में ही लोगों की पूजा-अर्चना ग्रहण करना – आदि बातें बड़ी नाराजगी के स्वर में बताने लगे। फिर उन्होंने बताया कि स्वामीजी ने उनके विषय में और स्वयं उनको भी कहा था – "रहना हो, तो वैसे ही रहना। कोई भी special claim (विशेष दावा) नहीं चलेगा। इसीलिये तो इन लोगों ने ठाकुर के नाम पर सब कुछ त्याग किया है।"

भक्तगण मामला संगीन देखकर एक-एक करके खिसक पड़े। संन्यासी उस समय महिम बाबू के पास ही बैठा था। ज्ञान महाराज आदि अनेक संन्यासी खड़े-खड़े सुन रहे थे। संध्या-आरती का घण्टा बजने पर सभी लोग उसी में चले गये। बाबूराम महाराज भी और कुछ कहे बिना चले गये। मैं भी हाथ-मुँह धोने को उठ गया, परन्तु महिम बाबू सिर नीचा किये चुपचाप उसी प्रकार बैठे रहे। मेरे मन में बड़ा कष्ट हुआ। यह थोड़ा अधिक हो गया था। और महिम बाबू क्या करते हैं – इस पर निगाह रखने की इच्छा से भी, डाँट खाने की आशंका के बावजूद मैं आरती में नहीं गया।

महिम बाबू आखिरकार धीरे-धीरे उठकर ज्ञान महाराज के बरामदे में जाकर बैठ गये। उदास और खिन्न थे। संन्यासी भी उनके पास जाकर बैठा। थोड़ी देर बाद संन्यासी ने पूछा – "क्या सोच रहे हैं?" वे बोले – "अब और नहीं, भाई! उस पार जाने के लिये नौका-भाड़ा के दो पैसे दे सकते हो?" मैंने वह दे दिया और फाटक तक उनके साथ भी गया। उनके पास सम्बल के रूप में केवल एक वस्त्र और एक गमछा था। उसी को लेकर वे मठ से चले गये। इसके बाद वे बेलूड़ मठ नहीं आये। यही उनका अन्तिम आगमन था।

उस दिन संन्यासी संध्या-आरती में नहीं गया। मन खूब अशान्त था। रात को बाबूराम महाराज ने कमरे में बुलवाया। उस समय भी उन्हें काफी बुखार था। लेटे-लेटे ही उन्होंने पूछा – "महिम ने तुमसे कुछ कहा है क्या? तेरे साथ तो उसका खूब मेल था।" मैंने उत्तर दिया – "नहीं महाराज, उन्होंने कुछ भी नहीं कहा।"

बाबूराम महाराज – "कहाँ गया?"

मैं – "नाव से उस पार चले गये।"

इसके बाद और कोई बात नहीं हुई। वे गम्भीर होकर चुपचाप सोचने लगे।

हिमालय-उत्तराखण्ड-भ्रमण (१९१९)

हिमालय दुनिया के सभी पहाड़ों में सबसे ऊँचा है और कदाचित् सबसे सुन्दर भी है। चोटी के ऊपर चोटी – एक के पीछे दूसरी, और एक-से-एक बढ़कर ऊँची भी। अधिक ऊँची चोटियाँ बरफ – दूध के समान धवल बरफ से ढँकी रहती हैं। विशेषकर सुबह और शाम के समय उसकी शोभा अपूर्व होती है। सूर्य का जब उदय होता है और जब अस्त होता है, उस समय के उस अपूर्व दृश्य की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वहाँ बारहों महीने बादलों का खेल चलता रहता है। कभी वे सहसा पर्वतों के शिखरों को ढँक देते हैं, तो कभी हटकर उन्हें उन्मुक्त कर देते हैं। बादल कभी पहाड़ की गोद में कपास के गोलों के समान एकत्र हो

* "In Columbia dog-size rats are found." – Naitional Geographic Magazine, May 1966, Pp. 690-91

जाते हैं, तो कभी नदी के समान प्रवाहित होने लगते हैं। फिर कभी उसमें तरंगों के नर्तन का दृश्य भी प्रकट होता है। सब कुछ देखने में कितना सुन्दर लगता है। कवि-हृदय यह सब देखकर मतवाला हो उठता है। साधक-हृदय वह सब दिव्य दृश्य देखकर सृष्टिकर्ता परमेश्वर और उनकी अपार लीला-माधुर्य के बारे में सोचने लगता है।

पहाड़ों से लगे नीचे की ओर घने जंगल हैं। वहाँ देवदारु (पाइन) के जंगल को दूर से देखकर लगा मानो ये वृक्ष असंख्य देव-मन्दिर हैं और उनके ऊपर के गुम्बज दिखाई दे रहे हैं। उनके ठीक पीछे बर्फ से ढँकी ऊँची-ऊँची चोटियाँ रहने से – वह देवताओं का भी उपभोग्य दृश्य हो जाता है, विशेषकर कश्मीर में। इसके बाद हैं असंख्य झरने, जल-प्रपात, छोटी-बड़ी नदियाँ। इन सबका जल एकत्र होकर गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र आदि नद-नदियों का सृजन होता है। कहीं-कहीं बड़े-बड़े ताल या सरोवर हैं। (यह दृश्य कश्मीर में काफी देखने को मिलता है।) इन छोटे-बड़े जल-प्रपातों की ध्वनि एक तरह के संगीत की सृष्टि करती है। वायु इस संगीत को दूर-दूर तक वहन करके ले जाती है। वह इतना मधुर होता है कि सुन-सुनकर तृप्ति नहीं मिलती। मन उसे दिन-रात सुनना चाहता है। ऐसे हिमालय पहाड़ में जो लोग निवास करते हैं, उन्हें सहज रूप में पहाड़ी कहते हैं। उनका जीवन अत्यन्त सुन्दर और सरल होता है।

हिमालय के उत्तराखण्ड के पहाड़ी लोग देखने आदि में अच्छे ही लगते हैं। उनकी वेशभूषा भी बुरी नहीं है। करीब-करीब यूरोपीय ढंग के – उन देशों के पहाड़ी लोगों के समान ही है। भेड़-बकरियाँ उनकी धन-सम्पदा हैं। गायें भी हैं। चमरी गायें भी होती हैं, जिनके बाल से चामर बनता, जिससे देव-मन्दिरों में विग्रह के समक्ष हवा किया जाता है। राजाओं के यहाँ बाँदी या सेवक खड़े-खड़े उससे मक्खियों को भगाते हैं। भेड़-बकरियों के बाल से वे लोग कम्बल बनाते हैं। और कोमल पशम से वे लोग पहनने के वस्त्र आदि बनाते हैं। छोटे-बड़े सभी लोग तकली से पशम का सूत कातते हैं और महिलाएँ तीन पतले (चार अंगुल चौड़ा तथा सवा या डेढ़ हाथ लम्बा) काष्ठ-फलकों से सुन्दर पशमी चादर की बुनाई करती हैं। घर के कोने में, जहाँ-तहाँ बैठी बुनती रहती हैं। करघे की कोई जरूरत नहीं है। वही चादर वे स्वयं पहनती हैं और उसी का पुरुषों के लिये पाजामा, कोट आदि बना देती हैं। वह कपड़ा काफी मजबूत और टिकाऊ होता है। और बर्फीले पहाड़ के लिये उपयोगी गरम तो होता ही है।

उत्तर भारत के बड़े-बड़े नगरों की सभ्यता और विशेष शिक्षित तथाकथित भद्रजनों के मापदण्ड से यदि इन बद्री, केदार, यमुनोत्री, गंगोत्री – उत्तराखण्ड के निवासियों का मूल्यांकन किया जाय – तो सम्भव है कि किसी-किसी के मतानुसार इन लोगों की सभ्यता का स्तर निम्न माना जाय।

संन्यासी जब उधर भ्रमण करने गया था, तो देखा कि वे लोग अत्यन्त निर्धन होने के बावजूद वेशभूषा आदि की दृष्टि से काफी सभ्य हैं, महिलाएँ अपने अंग भलीभाँति आवरण में रखती हैं और सम्मानपूर्वक चलना-फिरना करती हैं। प्राकृतिक नित्य कर्म भी निर्लज्ज होकर नहीं करतीं। व्यवहार में स्त्री-पुरुष – सभी बड़े सज्जन तथा सौजन्यपूर्ण हैं। उनके गृहस्थ अशिक्षित होने के बावजूद, उनका धर्म-विषयक ज्ञान काफी ऊँचा है। यह उनके ऋषि-पूर्वजों का अवदान है। (इनमें से अधिकांश राजपूत क्षत्रिय हैं।) किसी-किसी का मत है कि ये लोग पंजाब से राजनीतिक कारणों से विस्थापित होकर यहाँ आये थे।) इनमें से अधिकांश इतने गरीब हैं कि नमक या थोड़ी-सी मिर्च पीसकर उसी की चटनी के साथ रोटियाँ खाते हैं। दूध-दही से जितना घी निकलता है, उसे बेच डालते हैं। गेहूँ या जौ की खेती करते हैं। आलू भी पैदा करते हैं। अधिकांश लोगों को तो एक समय केवल उबले आलू ही खाकर गुजारा करना पड़ता है। दूध ये लोग नहीं पीते, परन्तु खूब मजबूत और सबल होते हैं। यहाँ के नर-नारी पूरा मन भर बोझ सहज ही पीठ पर उठा लेते हैं। बंगाली, बिहारी या उड़िया लोगों की भाँति कभी सिर पर नहीं उठाते। बोझ को पीठ पर लेकर ही पहाड़ों में चलना-फिरना सम्भव है। पहाड़ी लोग सर्वत्र – सभी देशों में पीठ पर ही बोझ उठाते हैं। छोटे बच्चे को भी पीठ पर बाँध लेते हैं या बेंत की छोटी टोकरी में बैठा लेते हैं। अन्य लोगों के लिये पहाड़ की चढ़ाई बड़ी कष्टकर होती है – हाँफते हुए परेशान हो जाते हैं, साँस रुकने लगती है, परन्तु पहाड़ियों को वैसा कुछ नहीं होता। हाँफने भी लगें, तो मैदानी अंचल के लोगों के समान उन्हें कष्ट नहीं होता। उसी देश में जन्म होने के कारण उनका फेफड़ा चढ़ाई-उतराई के समय बड़ा काम आता है – वहाँ के सूक्ष्म वायुमण्डल के कम दबाव में ठीक रहता है। समतल-वासियों को वहाँ साँस लेने में जैसा कष्ट

होता है, अभ्यस्त हो जाने के कारण उन्हें वैसा नहीं होता।

उत्तराखण्ड के पहाड़ी लोग अतिथिप्रिय हैं। निर्धन होने के बावजूद बड़े प्रेम के साथ अतिथि-सत्कार करते हैं। और साथ ही धर्मप्राण भी हैं। चोरी-बटमारी का तो वे लोग नाम तक नहीं जानते। गाँव के घर-द्वार में ताले प्राय: नहीं लगाये जाते। जो लोग वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आये हैं, गैर-पहाड़ी अंचल के लोगों के सम्पर्क में आये हैं, उन लोगों ने चोरी-बटमारी सीख ली है। साधु-संन्यासियों के प्रति उत्तराखण्ड के लोगों की खूब श्रद्धा है।

संन्यासी एक बार टिहरी के पास एक गाँव में गया। उस समय गाँव के सभी लोग खेत-खलिहान के कार्य से गये हुए थे। गाँव में कोई भी न था। बाल-बच्चों को भी साथ ले गये हैं। संन्यासी ने बहुत ढूँढ़ने के बाद एक घी के टिन का कटा हुआ ढक्कन उठा लाया। उसी को तवा मानकर वह उस पर रोटियाँ सेंक रहा था। तभी गाँव का एक पहाड़ी आकर हाजिर हुआ – "यह क्या कर रहे हैं? (पास का एक कमरा दिखाते हुए) उसी कमरे में तो बरतन हैं, लिया क्यों नहीं? कमरा तो खुला ही है!" और वह बिल्कुल अपरिचित था! कितनी सुन्दर बात है!

संन्यासी भ्रमण करते हुए दोपहर के समय यमुनोत्री के पास एक छोटे से गाँव में पहुँचा। देखा कि सभी घर खाली हैं। दरवाजों पर जंजीरें चढ़ी हुई हैं। केवल एक वृद्धा एक मकान के आंगन में बैठी हुई है। संन्यासी को देखते ही उसने खूब आदर के साथ स्वागत करके बैठाया।

भिक्षा का समय हो गया था, संन्यासी को भी बड़ी भूख लगी थी। बूढ़ी माँ विनयपूर्वक बोली – "महिलाएँ दस मील दूर घास के बीज इकट्ठे करने गयी हैं। संध्या होने के पूर्व ही आ जायेंगी – बड़े सबेरे निकली हैं। उसके बाद उसे कूटकर रोटियाँ बनायेंगी, आप भी खायेंगे। पिछले तीन वर्षों से कोई फसल नहीं हुई, धान नहीं हुआ, इसीलिये यह अन्न-कष्ट है। पुरुष लोग मसूरी-देहरादून की ओर मजदूरी करने गये हैं। यहाँ पर केवल हम बूढ़े-बूढ़ी और महिलाएँ हैं।"

ठीक उसी समय एक वृद्ध आकर हाजिर हुआ। वह ग्राम का 'प्रधान' या मुखिया था। आते ही खूब संस्कारी के समान बोला – "नमो नारायण।" (संन्यासियों को प्रणाम करने की यही रीति है।) और वही बताया, जो वृद्धा ने कहा था और बोला – "भिक्षा का समय हो गया है। मेरे घर चलिये रोटी तैयार है। इनके घर पर कोई भी नहीं है और रोटी कब बनेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं है।"

परन्तु वृद्धा नाछोड़-बन्दा थी, बोली – "ये हमारे घर आये हैं, ऐसा नहीं हो सकता। बेटी-बहू आते ही भोजन बनायेंगी। संन्यासी भूखा चला जाय, तो हमारा अमंगल होगा।" तब वृद्ध ने खूब समझाते हुए कहा – "वे लोग आकर रोटी बनायेंगी तो और भी खिला देना। इस समय भिक्षा का समय है, भूख लगी हुई है और मेरे घर रोटी तैयार है, इसलिये हठ मत करो। मुझे ले जाने दो!" वृद्धा ने ही संन्यासी को बुलाकर बैठाया था, इसलिये उसकी अनुमति के बिना वह जा नहीं सकता था। वह अधर्म होता। इसके बाद खूब समझाने पर वृद्धा राजी तो हो गयी, परन्तु बिना कुछ खिलाये नहीं जाने देगी, अत: घर के भीतर जाकर गुड़ की हण्डी को खुरचकर चिमटे से पकड़ा जा सके, उतना -सा गुड़ लाकर बोली – "और कुछ नहीं है, यही थोड़ा-सा लीजिये!" उसकी आँखों में जल था। संन्यासी के नेत्र भी डबडबा आये थे। श्रद्धा के साथ अर्पित अल्प मात्र वस्तु भी पवित्र करती है – यही बात सोचकर उसे हाथ में लेकर खाया और थोड़ा-सा पानी पी लिया। उसके बाद वह वृद्धा के प्रति मन-ही-मन प्रणाम ज्ञापित करके मुखिया के घर गया। धन्य हो माँ! धन्य हैं तुम्हारे पूर्वज – ऋषिगण, जो इस प्रकार के धर्म-संस्कार दे गये हैं!

मुखिया ने हरे रंग की चार छोटी-छोटी रोटियाँ दीं। कहा – "इतना ही है, और नहीं है। जंगली शाक को पीसकर ये रोटियाँ बनायी गयी हैं।" सन्देह हुआ कि खाया जा सकेगा या नहीं, अत: यह बताकर कि झरने के पास खायेंगे, संन्यासी उसी ओर चला गया। इसके बाद वहाँ जाकर एक स्वच्छ पत्थर के ऊपर बैठकर उसका एक टुकड़ा मुख में दिया – "अरे बाप रे, यह तो कुनैन से भी बढ़कर कड़वी है!" उल्टी होने की हालत हो गयी। मन को कितना भी समझाया – "अरे, यही खाकर ये लोग जीवित हैं।" मगर पानी के साथ निगलने पर भी उसे पेट में रोका नहीं जा रहा था। बाहर निकल आता था। पिछले दिन भोजन न मिलने के कारण भूख से कातर भी था। आधी रोटी भी खा नहीं सका।

एक बालक गायें चरा रहा था। उसका पेट फूला हुआ था और हड्डियाँ निकली हुई थीं। थोड़ी ऊँचाई पर एक पत्थर के ऊपर बैठा हुआ वह मेरी ओर किसी भूखे बाघ के समान संन्यासी के हाथ की रोटियाँ देख रहा था। संन्यासी समझ गया कि भोजन के अभाव में ही उसकी वैसी अवस्था हुई है। वह क्षुधार्थ था। अविलम्ब उसे वे साढ़े तीन रोटियाँ देने के लिये इशारे से बुलाया। बस, वह तो एक पाँव से हाजिर हुआ और गप-गप करके रोटियाँ खाने लगा – थोड़ा-सा पानी भी नहीं पीया। ओह, भूख की कैसी ताड़ना है! उनके नेत्रों तथा मुख से ऐसी तृप्ति का भाव फूट उठा, मानो वह मिठाइयाँ खा रहा हो। खाने के बाद वह फिर उसी पहले के पत्थर के ऊपर बैठकर संन्यासी की ओर देखने लगा।

ग्राम के कल्याण हेतु प्रार्थना करने के बाद संन्यासी अपने गन्तव्य – यमुनोत्री की ओर चला गया। (१९१९ ई.)

❖ **(क्रमश:)** ❖

नारदीय भक्ति-सूत्र (२७)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी ने अपनी जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं, जिनका हिन्दी अनुवाद वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने किया है। – सं.)

अहिंसा-सत्य-शौच-दयास्तिक्यादि–
चारित्र्याणि परिपालनीयानि ।।७८।।

अन्वयार्थ – **अहिंसा** – दूसरों को कष्ट न देना, **सत्य** – सत्य-निष्ठा, **शौच** – स्वच्छता, **दया** – दयाभावना, **आस्तिक्य** – आध्यात्मिकता में विश्वास, **आदि** – इत्यादि, **चारित्र्याणि** – सद्‌गुणों, (का) **परिपालनीयानि** – पोषण करना चाहिये।

अर्थ – भक्त को अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सद्‌गुणों का अर्जन तथा पालन करना चाहिये।

भक्त को अहिंसा, सत्य, पवित्रता, दया, ईश्वर की सत्ता में विश्वास आदि गुणों का अर्जन तथा रक्षण करना चाहिये। ईश्वर-अनुराग की प्राप्ति के लिये उसे इन साधनों का आश्रय लेना होगा। अपने जीवन के जिस एक-एक पल को उसने दुनियादारी से मुक्त रखा है, उन पलों में स्वयं को इसी प्रकार व्यस्त रखना चाहिये। इनमें से हर गुण पर ध्यान देना है।

अहिंसा का अर्थ है – मन, वचन व कर्म से दूसरों को कष्ट न देना। इसका अर्थ है – दूसरे की किसी तरह की हानि का विचार तक न रखना। व्यक्ति ऐसा आचरण न करे, जिससे किसी को हानि हो। इस ढंग से नहीं बोलना चाहिये कि दूसरे की भावनाओं को आघात पहुँचे। अत: अहिंसा का अभ्यास मन, वचन एवं कर्म से करना है। भक्त को अहिंसक बने रहना है अर्थात् उसे सर्वदा दूसरों के लिये उपयोगी तथा सहायक बनने के गुण को अर्जित करना है, न कि हानिप्रद।

धर्म-जीवन साधना करते समय भी ऐसी बातों पर अधिक ध्यान दिये बिना ही, हम प्राय: दूसरों को हानि पहुँचाते रहते हैं। उदाहरणार्थ, कभी-कभी धार्मिक कहे जानेवाले लोग भी अपनी नापसन्द के लोगों की निन्दा किया करते हैं। वे ईश्वर में विश्वास न रखनेवाले लोगों (नास्तिकों) की आलोचना करते हैं। भक्त को ऐसा भाव नहीं रखना चाहिये। उसे मन, वचन या कर्म से दूसरों को नुकसान पहुँचाने से दूर रहना चाहिये। यह एक निषेधात्मक आचरण बताया गया है।

इसके दूसरे सकारात्मक पहलू के रूप में भक्त को दूसरों का सहायक होना चाहिये। उसे दूसरे के प्रति प्रेमभाव रखना चाहिये। उसे दूसरे लोगों को प्रसन्न रखना चाहिये, पर ईश्वर-पथ से विमुखता या भटक जाने की कीमत पर नहीं। दूसरों के प्रति उसकी मदद ईश्वरानुभूति या ईश्वर-प्रेम की प्राप्ति रूपी उसके लक्ष्य को विस्मृत करने की कीमत पर नहीं होनी चाहिये। कोई भी चीज ईश्वर का स्थान नहीं ले सकती।

दूसरों की सहायता के नाम पर हमें परार्थपरता में अधिक नहीं डूब जाना चाहिये, क्योंकि ऐसा करके हम न केवल अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों को नष्ट कर डालते हैं, बल्कि दूसरों के सच्चे मददगार नहीं सिद्ध हो पाते। पवित्र हुए बिना हम नहीं समझ सकते कि हम किस प्रकार दूसरों की सच्ची सहायता कर सकते हैं। अपनी भावुकतावश हम जो दूसरों की सहायता करने की चेष्टा करते हैं, वह सच्ची सहायता नहीं है। दूसरी ओर इसकी अच्छाइयों का भी नाश हो जाता है, क्योंकि हम इसे अपने ईश्वर-स्मरण की कीमत पर करते हैं। इसीलिये इन परार्थपरक विचारों का अनुसरण भी अपनी आध्यात्मिक खोज को हानि पहुँचाये बिना ही होनी चाहिये।

फिर, एक आदर्श का अनुयायी होना एक महान् बात है। ईश्वरानुभूति या ईश्वर के प्रति परम प्रेम के अर्जन के रूप में आध्यात्मिक जीवन अपनाने वाले व्यक्ति को आन्तरिक रूप से सत्यनिष्ठ होना चाहिये। मन, वचन तथा कर्म से सत्य का पालन करना है। हमें झूठ नहीं बोलना चाहिये। हमें झूठी बातें नहीं सोचनी चाहिये। हमें ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो सत्य पर आधारित न हो। अर्थात् हमें मन, वचन और कर्म से सत्य का अभ्यास करना चाहिये।

फिर आता है सदाचार। यह अत्यन्त आवश्यक और आध्यात्मिक जीवन का मूल आधार है। प्राय: देखने में आता है कि ऐसे आचरण की उपेक्षा कर दी जाती है। अर्थात् हम सोचते हैं कि हम भी दूसरों की तरह आचरण कर सकते हैं। परन्तु यह आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनुकूल नहीं होता। इसे भलीभाँति समझ लेना चाहिये।

तर्क के लिये भी हमें ईश्वर में अविश्वासी लोगों के विचारों का चिन्तन नहीं करना चाहिये। हमें नास्तिक होने का भी दिखावा नहीं करना चाहिये। कभी-कभी लोग ऐसा करते हैं। आस्तिक होकर और अपनी आस्तिकता में विश्वास रखकर भी वे उदासीन भाव से कहते हैं – "अरे, मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता।" यह सत्य से भटक जाना और दूसरों के मन में अपने साधक न होने की छाप छोड़ना, दोनों ही है। फिर, ऐसा भी नहीं कि ऐसा बाह्य व्यवहार व्यक्ति के लिये हानिप्रद न हो। यह सचमुच हानिप्रद है और व्यक्ति को ऐसे किसी भी प्रलोभन से बचने हेतु सावधान रहना चाहिये।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैः
भगवानेव भजनीयः ।।७८।।

अन्वयार्थ – **सर्वदा** – सदैव, **सर्वभावेन** – हर प्रकार से, **निश्चिन्तितैः** – चिन्तामुक्त होकर, **भगवान-एव** – भगवान ही, **भजनीयः** – भजन करने योग्य हैं।

अर्थ – सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर भक्त को हमेशा केवल भगवान का ही भजन करना चाहिये।

पिछले सूत्र में अनेक सद्गुण बताये गये। इन सभी को अर्जित करना चाहिये। केवल भगवान ही सभी सद्गुणों के भण्डार हैं। सभी दुखों और चिन्ताओं से रहित भक्त को उन्हीं की उपासना करनी है। अर्थात् सभी दुखों-चिन्ताओं से मन को मुक्त रखते हुए केवल भगवान का भजन करना है। पूरी तौर से निश्चिन्त होकर पूरे मन को ईश्वर में लगाना है।

इसके दो पहलू हैं। पहला है – मन को सांसारिक लक्ष्यों की प्राप्ति से जुड़े सभी कार्यों और चिन्ताओं से या नाम-यश, धन-सम्पत्ति आदि से सम्बन्धित चिन्ताओं से मुक्त रखना। मन को केवल रखने मात्र के लिये ही चिन्तामुक्त नहीं रखना चाहिये। ऐसी बात नहीं है। मन को चिन्ताओं से इसलिये मुक्त रखना होगा, ताकि उसे बिना किसी कठिनाई के ईश्वरोन्मुखी किया जा सके। व्यक्ति को सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर केवल ईश्वर की प्रार्थना और आराधना करनी चाहिये।

तात्पर्य यह है कि मन की शान्ति व्यक्ति के अपने सुख के लिये नहीं है। हम मन की शान्ति प्राप्त कर सकते हैं, पर मन की शान्ति पाना हमारा लक्ष्य नहीं है। इसे याद रखना है। हम प्राय: कहते हैं – मुझे शान्ति मिल गई है। भक्त के लिये यह क्या है? निस्सन्देह, यह एक उपलब्धि या सिद्धि है, पर यह एक निम्नतर उपलब्धि है, जो उसके भीतर आनन्द उत्पन्न कर सकती है या जो उसे सुखी बना सकती है। किन्तु वह उसका लक्ष्य नहीं है; लक्ष्य तो केवल ईश्वर ही है।

ये सभी आध्यात्मिक साधनाएँ मानसिक सुख या शान्ति या प्रसिद्धि प्राप्त करने के विचार से नहीं, बल्कि एकमात्र ईश्वर-आराधना के विचार से की जानी चाहिये। इसमें अन्य कोई भी विचार नहीं होना चाहिये, मन में अन्य कोई भी लक्ष्य नहीं रखना चाहिये।

कभी-कभी लोग सुख-शान्तिमय जीवन को ही आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य समझ बैठते हैं। भक्त के लिये ऐसा नहीं है। यदि ईश्वर-प्रेम की अप्राप्ति भक्त को दुखी बनाती है, तो वह दु:ख उसके लिये सम्पदा रूप है। मन की शान्ति और सुख उसकी वांछित वस्तु नहीं है। लक्ष्य केवल ईश्वर हैं। अत: हमें अपने समग्र मन को ईश्वर-आराधना और उनके प्रति भक्ति अर्जित करने में लगा देना चाहिये। मानसिक सुख या शान्ति या आनन्द का कभी विचार भी नहीं करना चाहिये।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति
अनुभावयति (च) भक्तान् ।।८०।।

अन्वयार्थ – **सः** – वह, **कीर्त्यमानः** – महिमा-कीर्तन किये जाने पर, **शीघ्रम्** – जल्दी, **एव** – ही, **आविर्भवति** – प्रकट होते हैं, (**च** – और) **भक्तान्** – भक्तों को, **अनुभावयति** – (अपनी) अनुभूति कराते हैं।

अर्थ – भक्तों द्वारा इस तरह गुणगान से महिमान्वित किये जाने पर ईश्वर शीघ्र ही दर्शन तथा अनुभूति से धन्य करते हैं।

ईश्वर-पथ के अनुगामियों से हम प्राय: सुनते हैं – अरे, मैं तो शान्ति में हूँ। मानो वही अपने आप में साध्य था, या 'मुझे तो सुख मिल गया है', मानो यह सुख ही उनका लक्ष्य था। सुख या शान्ति भक्त का लक्ष्य नहीं है। ये व्यक्ति को चिन्तामुक्त बनाने में सहायक हो सकते हैं, ताकि वह अबाध रूप से पूरे मन-प्राण को ईश्वर में लगा सके। इसकी जगह यदि हम मन की शान्ति और सुख का भोग करते हैं, तो हम अपनी भगवद्भक्ति से च्युत हो जाते हैं। यह हमें याद रखना होगा। इन गलत विचारों को मन से निकाल देना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि हमें हमेशा अशान्त या बेचैन रहना है। मेरा अभिप्राय यह नहीं है। हमारा सुख तो ईश्वर के प्रति उस परम प्रेम की प्राप्ति द्वारा ही होगा। साधारण सुख हमारी वांछित वस्तु नहीं है, यह चिरस्थायी नहीं है। हमें हर समय, हर तरीके से और हर रूप में ईश्वर-आराधना ही करनी है, ईश्वर-प्रेम ही अर्जित करना है। यही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक कि जब हम खाना-पीना आदि अपने ऐसे सामान्य क्रिया-कलाप करते हों, जो न तो आध्यात्मिक हों, न भौतिक हों और न हानिकारक ही हों – ऐसे क्रिया-कलापों को भी ईश्वर-चिन्तन के साथ करना चाहिये। इस जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं होना चाहिये, जो ईश्वर-चिन्तन से व्याप्त न हो। भक्त का प्रत्येक कार्य पूजा रूप होना चाहिये। भक्त का पूरा जीवन ही एक सतत ईश्वरार्चन होना चाहिये। मन में किसी अन्य विचार के बिना ही, संसार में किसी अन्य चीज द्वारा विक्षुब्ध हुये बिना ही, भक्त को हर प्रकार की अर्चना के माध्यम से निरन्तर ईश्वर को प्रसन्न करना चाहिये।

इस प्रकार की उपासना से सन्तुष्ट होकर ईश्वर स्वयं प्रकट होते हैं और भक्त को दर्शन देकर धन्य करते हैं। केवल तभी भक्त ईश्वर-सान्निध्य का बोध कर सकता है, तभी जीवन के उस चिराकांक्षित लक्ष्य – ईश्वरानुभूति को प्राप्त कर सकता है। ईश्वर हमारे समक्ष प्रकट होते हैं और ईश्वरानुभूति कराते हैं। शीघ्र ही, हमें उनकी सत्ता की अनुभूति होती है। ये सभी उपाय भक्त को ईश्वरानुभूति की ओर ले जाते हैं और वह भी शीघ्रतापूर्वक। भक्त जितनी व्याकुलता और तीव्रता के साथ साधना करता है, यह समय भी उसी पर निर्भर है। जब वह ईश्वर का गुणगान करता है, उनका ध्यान करता है, स्वयं को पूर्णतया पवित्र रखता है, अन्य सभी कार्यों-चिन्ताओं से मुक्त बना रहता है और सतत ईश्वर विषयक-विचारों में लगा रहता है, तब इस अनुभूति में देरी नहीं होती। ❖ **(क्रमशः)** ❖

एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रतिवर्ष की भाँति २००६ ई. में भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महाराष्ट्र) के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उनके उस महत्वपूर्ण व्याख्यान को हम 'एक स्वस्थ जीवन-दर्शन : मनुष्य की परम आवश्यकता' नामक शीर्षक से प्रकाशित कर रहे हैं। महाराज अपनी इस छोटी सी पुस्तिका में जीवन के उस मौलिक दर्शन की व्याख्या करते हैं, जिसके आधार पर हम अपने जीवन का निर्माण कर सकें तथा शान्ति एवं सामञ्जस्यपूर्ण जीवन जी सकें। प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के ब्रह्मचारी जगदीश और इसका सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

प्रस्तावना

ईसा मसीह ने कहा है – "मनुष्य केवल रोटी से जीवित नहीं रहेगा।" – सन्त मैथ्यू ४-४

विकास के क्रम में जिस बिन्दु पर मनुष्य का आगमन हुआ, उस बिन्दु पर नियतिवाद, निश्चयात्मिकावाद न्यूनतम हो गया तथा चुनाव एवं स्वेच्छित कर्म प्रधान हो उठा। इस अवस्था में मनुष्य अपनी जैविक आवश्यकताओं एवं अस्तित्व के लिए पर्याप्त समर्थ हो गया था। अपने पूर्वजों की तुलना में वह सुरक्षित था। उसकी वैचारिक क्षमता पहले से ही विकासोन्मुख थी। उसके बुद्धि-पूर्वक कार्य निष्पादन ने उसे पूर्वजों की तुलना में अल्प समय में ही कार्य पूर्ण कर लेने में कुशल बना दिया था। अब उसे स्वतन्त्रता प्राप्त थी एवं उसके पास अतिरिक्त समय उपलब्ध था। इस अतिरिक्त समय एवं स्वतन्त्रता की उपलब्धि के साथ ही दर्शन की प्रक्रिया आरम्भ हुई। मनुष्य अपने चारों ओर की प्रकृति के प्रति सचेत हुआ एवं उसके मन में जिज्ञासा ने प्रवेश किया। उसने जानना चाहा कि उसके आस-पास की दृश्यावली क्या है? जीवन क्या है? वह स्वयं क्या है? इत्यादि। उसने इन्हें समझने का प्रयत्न किया एवं इस तरह समझने के प्रयत्न में उसके मन में विचारों की अनेक वीथियाँ निर्मित होती गईं। मनुष्य जो कुछ भी देख रहा था एवं अनुभव कर रहा था, उसे जानने को व्यग्र हो उठा। इस तरह हम देखते हैं कि वह रोटी मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह रोटी के अतिरिक्त कुछ और भी चाहता था जो उसे सन्तुष्ट करे। यह 'कुछ' कोई भौतिक वस्तु नहीं थी। इस 'कुछ' की झलक उसने अपने हृदय में प्राप्त की थी। अत: हम कह सकते हैं कि दर्शन का आरम्भ मनुष्य की वैचारिक क्षमता से हुआ।

दर्शन क्या है?

दर्शन के विषय में जनसाधारण की धारणा यह है कि इसमें किसी अन्य जगत की चर्चा है – उन वस्तुओं की जो अत्यन्त अमूर्त हैं एवं इन्द्रियों के माध्यम से समझी नहीं जा सकती हैं, कुछ स्वप्रिल सी हैं, इसलिये हमारे व्यावहारिक जीवन हेतु सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सामान्य व्यक्ति कदाचित् इस बात पर विश्वास ही न करे कि दर्शन उसके जीवन को प्रभावित करता है, उसे ढालता है। दर्शन का सही होना स्वयं व्यक्ति एवं परिणामत: समाज के उत्थान का कारण होता है और दर्शन का गलत होना उसके पतन का कारण होता है। यद्यपि यह सत्य है कि अमूर्त चिन्तन में अत्यधिक निमग्नता हमें निष्क्रिय एवं जड़ बना सकती है, तथापि हमें अपने जीवन को सार्थकता प्रदान करने हेतु एक स्वस्थ जीवन-दर्शन की अनिवार्य आवश्यकता होती ही है।

हम सभी जीवित प्राणी हैं तथा जीवन से भलीभाँति परिचित हैं, तथापि हमारे लिए जीवन को ठीक-ठीक परिभाषित करना कितना कठिन है। इसी तरह एक अर्थ में हम सब स्वयं अपने लिए एक दार्शनिक हैं, तथापि हमारे लिए दर्शन की यथार्थ परिभाषा देना बहुत कठिन है! किन्तु व्यवहार हेतु दर्शन की कुछ कार्यकर परिभाषाओं पर हम विचार कर सकते हैं।

दर्शन शब्द का अर्थ है – ज्ञान से प्रेम। किन्तु यहाँ पुन: एक विकट समस्या से हमारा सामना होता है। 'ज्ञान' क्या है? विद्वत्-जन हमें 'ज्ञान' शब्द के अनेक अर्थ सुझाते हैं। किन्तु वे सभी इस बात पर एकमत हैं कि मात्र 'बौद्धिक ज्ञान' ही 'ज्ञान' नहीं है। वह बौद्धिक ज्ञान से कुछ अधिक है। शब्दकोष 'ज्ञान' शब्द को इस प्रकार परिभाषित करता है – "'ज्ञान' अनुभव, समझ, सहजज्ञान तथा अन्तर्ज्ञान का उपयोग कर विचार एवं कार्य करने की योग्यता है।" अर्थात् अनुभव के द्वारा विचार एवं कार्य करने की योग्यता।

["The ability of result of any ability to think and act utilizing Knowledge, experience, understanding, common sense and insight" (Collins dictionary of English Language 1983 Editor Patrick Hanks)]

बौद्धिक ज्ञान एक शक्ति है, किन्तु अनुभूत ज्ञान इस शक्ति को नियंत्रित करता है। अनुभूत ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान को सही दिशा देता है, एवं उसका मार्ग-दर्शन करता है। जब बौद्धिक ज्ञान अनुभूत ज्ञान के साथ संयुक्त होता है, तब वह परम सत्य की अनुभूति में परिणत होता है, जो कि समस्त ज्ञान का एकमात्र उद्देश्य है। जब बौद्धिक ज्ञान, अनुभूत ज्ञान

से संयुक्त होता है, केवल तभी वह 'दर्शन' बनता है तथा मानव जीवन को सार्थक करता है एवं विश्व-ब्रह्माण्ड को महत्व प्रदान करता है।

अत: यह स्पष्ट है कि दर्शन-शास्त्र बौद्धिक ज्ञान का सैद्धांतिक अनुमान मात्र नहीं है, जैसा कि सामान्यत: कुछ लोग सोचा करते हैं। शब्दकोष दर्शनशास्त्र की निम्नलिखित प्रकार से परिभाषा करता है – "सर्वाधिक सामान्य विज्ञान। ऐसा कहा जाता है, कि पाइथागोरस ने स्वयं को ज्ञान का प्रेमी कहा था। किन्तु दर्शनशास्त्र, अनुभूतज्ञान (तत्त्व ज्ञान) एवं तत्त्वज्ञान की खोज दोनों ही है। मौलिक रूप से किसी भी वस्तु की तार्किक व्याख्या, एक सामान्य सिद्धान्त जिसके अन्तर्गत सभी तथ्यों की व्याख्या की जा सके, इस तरह विज्ञान से अभेद है। बाद में, अस्तित्व के प्रथम सिद्धान्त का विज्ञान, परम सत्य का पूर्वानुमान। अब सामान्यत:, व्यक्तिगत चिन्तन अथवा सांत्वना, तकनीकी रूप से विज्ञानों का विज्ञान, अनुभूतिजन्य विज्ञान से प्राप्त सभी ज्ञान की आलोचना और सुव्यवस्था या संगठन अथवा तार्किक ज्ञान, सहज ज्ञान आदि दर्शनशास्त्र में सम्मिलित हैं, इसके अतिरिक्त तत्त्व मीमांसा या अस्तित्व मीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्ञानेन्द्रिय या बोधात्मक शास्त्र आदि हैं।

[The most general science. Pythagoras is said to have called himself a lover of wisdom. But Philosophy has been both the seeking of wisdom and wisdom sought Originally rational explanation of anything, the general principle under which all facts could be explained, in this sense indistingnishable from science. Later the science of the first principle of being; the presupposition of the ultimate reality. Now Popularly, private wisdom or consolation, technically the science of sciences, the criticism and systematization or organization of all Knowledge drawn from empirical science, rational learning, common experience or wherever Philosophy includes metaphysics or ontology and epistemology, logic, ethics, aesthetics, etc" - (The Dictionary of Philosophy edited by Dagbest D Runes, Jaico Publishing House Bombay)

एक लेखक ठीक ही कहते हैं – "दर्शनशास्त्र सभी विज्ञानों की जननी है।"[१]

समस्त ज्ञान जिसे हम अध्ययन, विचार, अनुभव अथवा अन्तर्प्रज्ञा द्वारा उपलब्ध करते हैं, दर्शनशास्त्र की परिधि में आता है। अत: दार्शनिक चिन्तन किसी भी स्थिति में, किसी भी विचार अथवा ज्ञान को लेकर आरम्भ हो सकता है। दर्शनशास्त्र की इस प्रकृति की व्याख्या करते हुए वे ही लेखक आगे कहते हैं –

"वास्तव में ऐसा कोई भी ज्ञान अथवा सहयोगी ज्ञान नहीं है जिससे दार्शनिक विचार अपने समीक्षात्मक चिन्तन का प्रारम्भ न कर सके; मानवी अनुभव का ऐसा कोई क्षेत्र अथवा अवस्था नहीं है, जो इस हेतु सामग्री उपलब्ध न कर सकता हो।"[२]

दर्शनशास्त्र एक कसौटी है। अत: अन्य सभी तरह के ज्ञान को उन्हें स्वीकृति प्रदान करने के पूर्व उनकी सत्यता एवं वैधता की परीक्षा इस कसौटी पर कस कर की जानी चाहिए। यद्यपि यह सत्य है कि दार्शनिक चिन्तन किसी भी तरह के ज्ञान को लेकर प्रारम्भ किया जा सकता है, तथापि ज्ञान का प्रत्येक आयाम दर्शनशास्त्र की दृष्टि से सत्य नहीं है। ज्ञान के भ्रामक एवं अवैध रूप भी हैं। दर्शनशास्त्र विभिन्न तरह के ज्ञान समुच्चय से परीक्षण एवं आलोचना का आश्रय लेकर, सत्य ज्ञान को उद्घाटित करता है।

प्राचीन हिन्दू विचारक ज्ञान के चरम बिन्दु तक गये तथा उन्होंने समस्त ज्ञान के मूल की खोज की; एक यथार्थ दर्शनशास्त्र का अन्वेषण किया। उन्होंने उसे ब्रह्मविद्या[३] कहा। उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उसे दो भागो में विभाजित किया; जैसे – परा और अपरा विद्या[४]। मुण्डक उपनिषद् में इसका सुन्दर वर्णन आता है –

"वेदज्ञ महापुरुषों ने कहा कि दो तरह के ज्ञान का अर्जन किया जाना चाहिए – एक है निम्न एवं दूसरा है उच्च।"

दर्शनशास्त्र, ब्रह्मविद्या के रूप में मात्र बौद्धिक निष्कर्ष ही नहीं है, जिसे मनुष्य विभिन्न स्रोतों से एकत्रित ज्ञानराशियों के मध्य बहुधा एकत्व एवं सामंजस्य का वृथा प्रयास करता है।

समस्त बौद्धिक समझ, विश्लेषण एवं अनुमान, 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत आते हैं, जो कि सत्य की जानकारी अथवा बौद्धिक संकेत मात्र होते हैं, किन्तु सत्य का वास्तविक ज्ञान नहीं। सत्य का यथार्थ ज्ञान मात्र 'पराविद्या' से ही उपलब्ध होता है। वही उपनिषद् कहता है कि उच्चतर ज्ञान वह है जिससे अव्यय को प्राप्त कर लिया जाता है।

अत: हिन्दू विचार पद्धति में दर्शनशास्त्र को 'दर्शन' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है परम सत्य को देखना; उसका बोध अथवा प्रत्यक्ष एवं आसन्न अन्तर्प्रज्ञात्मक अनुभव। जब इस अनुभव की तार्किक भाषा में व्यवस्थित रूप से व्याख्या की जाती है, तब वह दर्शनशास्त्र कहलाता है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

सन्दर्भ-सूची

१. फिलॉसफी : एन इन्ट्रोडक्शन, बाय रेन्डाल एण्ड बूचर, पब्लिशर बारनेस एण्ड नोबल, न्यूयॉर्क, पेज-५
२. वही
३. मुण्डक उपनिषद, १.१.१ ४. मुण्डक उपनिषद, १.१.४

स्वामीजी का बहु-प्रतिक्षित पत्र

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुनः खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

अखण्डानन्दजी अपनी यात्रा के दौरान बीच-बीच में खेतड़ी-नरेश अजीतसिंह को पत्र लिखकर प्रजा के प्रति उनके कर्तव्य की याद दिलाया करते थे। यद्यपि उनमें से कोई भी पत्र अब उपलब्ध नहीं है, तथापि उदयपुर से ८ जून, १८९४ को उन्होंने वाराणसी के विद्वान् जमींदार श्री प्रमदादास मित्र को जो पत्र लिखा, उससे हम उनकी तत्कालीन मन:स्थिति तथा खेतड़ी-नरेश को लिखे हुए पत्रों की विषय-वस्तु का कुछ आभास पा सकते हैं। उन्होंने लिखा था –

श्रीश्रीरामकृष्णः शरणम्

पूज्यपाद महाशय,

कल आपका एक पत्र मिला। उससे यह जानकर बड़ा दु:ख हुआ कि आप वातरोग से कष्ट पा रहे हैं। उत्तम वैद्य की चिकित्सा से आप शीघ्र आरोग्य प्राप्त करेंगे। आरोग्य होने के बाद अब फिर एक स्थान पर बैठे न रहियेगा। थोड़ा-बहुत चलना-फिरना करते रहियेगा। उसके बाद शीघ्र ही मुझे अपनी कुशलता का समाचार देंगे। आपके पुत्र-पौत्र आदि सब मजे में हैं न ! उपेन्द्रबाबू तथा मोक्षदाबाबू कैसे हैं? उन लोगों का मेरे प्रति बड़ा अनुराग था। क्या वे लोग अब भी मुझे याद करते हैं? शायद भूल गये होंगे। कृपया उन सभी को मेरा प्रेम ज्ञापित करेंगे।

अब तक मैंने गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा राजपुताना का भ्रमण कर लिया है। इन स्थानों पर मैंने भ्रमण की अपेक्षा निवास ही अधिक किया है। ऐसे किसी महापुरुष से भेंट नहीं हुई, जिनके बारे में लिखूँ। और लगता है कि गंगातट-निवासियों को छोड़कर भारत के अन्य किसी भी अंचल में सदाचार भी नहीं है। यद्यपि वेदोक्त संस्कार तथा क्रियाकर्म सर्वांगीण रूप से कहीं भी देखने को नहीं मिलता, तथापि यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि बंगाल में अब भी जो स्मार्त पौराणिक तथा तांत्रिक क्रियाकर्म अनुष्ठित होता है, वैसा भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यद्यपि अभी तक मैं दक्षिण में नहीं गया हूँ, तथापि मेरा अनुमान है कि बंगाल के समान परिमार्जित तथा शास्त्रोक्त आचार-व्यवस्था तथा संस्कार उस अंचल में भी नहीं है। दक्षिण के अधिकांश लोग वेदपाठ करते हैं, यह सत्य है तथापि पेट की चिन्ता या संसार की चिन्ता में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण वे लोग उनके तात्पर्य पर विचार करने के लिये समय नहीं निकाल पाते। जिन अल्प लोगों को इस कष्टकर संसार-निर्वाह की चिन्ता से छुटकारा मिला हुआ है, वे भी ऐसा इन्द्रिय-परायण, विलासी, भोगोन्मत्त तथा तमोगुण से अभिभूत हैं कि उनका इस विषय में मन नहीं लगता और वे अपने कल्याण तथा कर्तव्य के बारे में बिलकुल भी नहीं सोचते। परन्तु यदि वे लोग अपनी सुख-शय्या से उठकर आँखें खोलकर अपने कर्तव्य-पथ पर थोड़ा-थोड़ा अग्रसर हों, तो यह दु:ख अधिक दिनों तक नहीं रहेगा।

"वस्तुत: हमारा जो भी धर्म, संस्कार, ईश्वरमुखी बुद्धि तथा ज्ञान है, वह सब वेद से आया है। वेद के बिना केवल हम लोग ही क्यों, दुनिया का कोई भी देश वास्तविक धर्म का रहस्य नहीं जान पाता। अत: जरा सोचकर देखिये कि काल के अपरिहार्य परिवर्तन के फलस्वरूप हम अपनी उस पैतृक सम्पत्ति – वेदरूपी अमूल्य धन से कितने दूर चले आये हैं ! महाशय, ये सारी बातें तो आप जानते हैं, तथापि आशा करता हूँ कि मेरी इन बातों पर आप नाराज नहीं होंगे। हम सभी बचपन से ही अपने सामवेदीय कौथुमी शाखा के रूप में परिचित हैं। परन्तु वस्तुत: वह क्या है, यह प्राय: कोई भी नहीं जानता। इसी कारण हम लोग सभी विषयों में इतने हीन हो गये हैं। अन्यथा शास्त्रकार भी ऐसा क्यों लिखते – यथा '**योऽनधीत्य द्विजो वेदान् अन्यत्र कुरुते श्रमम्, स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः**।' यह बात सत्य हो, तो भारत के गिने-चुने लोग ही द्विज कहलाने के योग्य हो सकते हैं। वेद-अध्ययन के लिये शास्त्र में ऐसा कठोर आदेश होने का क्या कारण है? वैसे वेद के बिना धर्म-अधर्म के बारे में ज्ञान नहीं हो सकता और वेदपाठ-विहीन होने के कारण द्विजों का शुद्रत्व तो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों में प्राय: सभी जो दासत्व करके जीवन-यापन कर रहे हैं, इसके लिये मैं उन्हें दोष नहीं देता।

परन्तु राजा-महाराजा तथा धनाढ्य लोगों को आलस्य त्यागकर 'सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'' – आदि भगवान की वाणी का स्मरण करते हुए जी-जान से अपने कर्तव्य का पालन करना होगा। सम्भवत: आपने पढ़ा होगा कि 'मोक्षमूलर' साहब ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में वेदों का कैसा अतुल्य महिमागान किया है और स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वेद को जाने बिना कुछ भी नहीं जाना जा सकता। अत: मैं आपसे सविनय निवेदन करता हूँ कि जिससे आपकी प्रजा स्वच्छन्द रूप से संसार निर्वाह करते हुए वेदपाठ-पूर्वक अपने-अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करने में सक्षम हो, इस विषय में मनोयोग देंगे। आप लोग कर्मठ हैं और आप यह भी जानते हैं कि आर्य जाति का कोई भी कर्म केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं होता; यहाँ तक कि उनके लिये अकेले भोजन करना भी उचित नहीं है। ऐसे कर्मों का अनुष्ठान कीजिये जिससे देश का कल्याण हो।

My nation first and second myself. (मेरे देशवासी पहले, उसके बाद मैं) – इस बात को सदा याद रखेंगे। देश आपका है, संसार आपका है और आप संसार के हैं – अत: आपके लिये इस प्रकार संसार छोड़ने की बात कैसे उचित होगी? तथापि ऐसा प्रयास कीजिये, जिससे देश का कल्याण हो। वस्तुत: यही आपका धर्म है। प्रजा-वत्सल राजा जनक के प्रयासों से ही इस देश में ब्रह्मज्ञान का चरम उत्कर्ष हुआ था। पुन: आपके समान उदार प्रजापालक ज्ञानी राजा होने से ही ब्रह्मज्ञान का पुनरुत्थान हो सकेगा, अन्यथा नहीं। निम्नलिखित कुछ श्लोक आप लोगों को स्मरण रखना उचित है –

प्रजानां विनयाधानात् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता, पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।
प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्र-गुणमुत्स्रष्टुम्-आदत्ते हि रसं रविः ।।
तं वेधा विदधे नूनं महाभूत-समाधिना।
तथा हि सर्वे तस्याऽसन् परार्थैक फला गुणाः ।। रघुवंश

महाशय, मेरी वाचालता को क्षमा करेंगे। मेरी समझ से यही आप लोगों का कर्तव्य है।

आपका, गंगाधर[1]

उसी माह के अन्त में उदयपुर (मेवाड़) से ही अखण्डानन्द जी बाबू प्रमदादास मित्र को एक अन्य पत्र में लिखते हैं –

उदयपुर (मेवाड़)
जून, १८९४

श्रीश्रीरामकृष्णः शरणम्

''श्रद्धास्पद महाशय,

बहुत दिन हुए आपका एक पत्र मिला था। आशा करता हूँ कि उत्तर देने में विलम्ब होने के कारण आप मुझ पर नाराज नहीं होंगे। आप कैसे हैं, यह जानने के लिये मैं विशेष उत्सुक हूँ। शीघ्र शुभ समाचार देकर सुखी करेंगे।

आपको मैंने उदयपुर के राज-सिंहासन पर आसीन नहीं समझा है। इसके पूर्व मैंने आप लोगों के जागतिक विषयों में कोई बात नहीं पूछी है और न कोई बात कही है। केवल पिछले पत्र में ही इस बात का उल्लेख हुआ है।

मेरा निवेदन है कि आपकी जितनी भी प्रजा है या जितना धन है, क्या उसके अनुसार आप लोग जो कुछ उचित है, वह करते हैं? जिन लोगों से आप कर वसूलते हैं, क्या उन लोगों के सुख-दु:ख का समाचार आप लोग लेते रहते हैं?

महाशय, यदि आप देश की उन्नति करना चाहें, या सचमुच ही निष्काम कर्म करके चित्तशुद्धि की इच्छा रखते हों, तो काय-मन-वाणी से निर्धनों की सेवा कीजिये।

सर्वप्रथम तो आप यथासाध्य अपने कुटुम्ब का दु:ख दूर कीजिये। यहाँ कुटुम्ब का अर्थ आपके घर में रहनेवाले कुछ गिने-चुने लोगों से नहीं है। आपकी जितनी प्रजा हैं, वे सभी आपकी सन्तान के तुल्य हैं। इसीलिये कहता हूँ – Charity begins at home. (सेवा घर से शुरू होती है।) अपनी प्रजा का पालन करने के बाद यदि कुछ बच जाय, तो तत्काल उसे निर्धनों की सेवा में अर्पित कर दीजिये। **दानमेकं कलौ युगे।** The helping of man is the best serving of God. (मनुष्य की सहायता ही ईश्वर की श्रेष्ठ सेवा है।) यह वाक्य सर्वदा आपके हृदय में जाग्रत रहे। आपको कहता हूँ न कि अपनी जमींदारी का कार्यभार अपने दोनों पुत्रों को दे दीजिये और देखिये कि वे लोग सर्वदा प्रजा के हित का प्रयास करें। केवल घर में बैठने से कार्य नहीं होता। इसके लिये बीच-बीच में गाँव-गाँव में घूमना चाहिये और सर्वदा इस बात का पता लगाते रहना चाहिये कि प्रजा को किस-किस चीज का अभाव है और क्या करने से वे लोग सुखपूर्वक रहेंगे।

परसों शिकागो से स्वामीजी का एक पत्र मिला। उन्होंने लिखा है – ''तुमने पढ़ा है – 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' और मैं कहता हूँ '**दरिद्रदेवो भव**', '**मूर्खदेवो भव**'।'' भारत की दीन दशा देखकर वे बड़े ही व्यथित हुए थे। यह बात मुझे उनके पत्र से और भी स्पष्ट रूप से समझने को मिली। उनका यह पत्र २८ (मई?) को वहाँ से रवाना होकर पिछले मंगलवार को यहाँ पहुँचा है। लगता है कि अब भी वे वहीं हैं तथा कुछ दिन और वहीं रहेंगे।'' किम् अधिकम् इति –

आपका, गंगाधर[2]

स्वामीजी से उत्तर की प्राप्ति

१८९४ ई. के जून के अन्त में शिकागो से स्वामीजी का जो बहु-प्रतीक्षित पत्र आ पहुँचा था, वह इस प्रकार था –

१. शरणागति और सेवा (बँगला ग्रन्थ), पृ. ८४-८५

२. शरणागति ओ सेवा (बँगला), सं. १९९७, पृ. ८७-८८

ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय

प्रिय अखण्डानन्द,

मैं तुम्हारा पत्र पाकर अति प्रसन्न हुआ। मेरे लिए यह बड़े हर्ष की बात है कि खेतड़ी में रहकर तुमने अपने स्वास्थ्य को बहुत कुछ ठीक कर लिया है।

तारक दादा (स्वामी शिवानन्द) ने मद्रास में बहुत काम किया है। निश्चय ही यह बड़ा आनन्ददायक समाचार है। मैंने मद्रास के लोगों से उनकी बड़ी प्रशंसा सुनी है। लखनऊ से राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) और हरि (स्वामी तुरीयानन्द) का पत्र मिला, वे सकुशल हैं। शशि (स्वामी रामकृष्णानन्द) के पत्र से मठ के सारे समाचार मालूम हुए। ...

राजपुताने के भिन्न-भिन्न भागों में रहनेवाले ठाकुरों के बीच आध्यात्मिकता और परोपकार के भाव जाग्रत करने का प्रयत्न करो। हमें काम करना है और काम आलस्य में बैठे-बैठे नहीं हो सकता। मलसीसर, अलसीसर और वहाँ के जो दूसरे 'सर' हैं, बीच-बीच में वहाँ हो आया करो। और मन लगाकर संस्कृत तथा अंग्रेजी का अध्ययन करो। मेरा अनुमान है कि गुणनिधि पंजाब में होगा। उसे मेरा विशेष प्रेम लिख भेजना और उसे खेतड़ी बुला लेना। उसकी सहायता से तुम संस्कृत पढ़ो और उसे अंग्रेजी पढ़ाओ। जैसे भी हो, उसका पता मुझे अवश्य लिखना। गुणनिधि है अच्युतानन्द सरस्वती। ...

खेतड़ी नगर के गरीब और नीच जातियों में द्वार-द्वार जाओ और उन्हें धर्म का उपदेश दो। उन्हें भूगोल तथा इसी तरह के अन्य विषयों की मौखिक शिक्षा दो। यदि गरीबों का कुछ कल्याण न करो, तो केवल निठल्ले बैठे रहने तथा राजभोग उड़ाने और 'हे प्रभु रामकृष्ण' कहने से कोई लाभ नहीं हो सकता। बीच-बीच में दूसरे गाँवों में भी जाकर धर्मोपदेश करो, तथा जीवन-यापन की शिक्षा दो। कर्म, उपासना और ज्ञान – पहले कर्म, उससे तुम्हारा मन शुद्ध हो जायेगा, नहीं तो सब चीजें निष्फल होंगी जैसे कि यज्ञ की अग्नि के स्थान पर राख के ढेर में घी ढालने से वह निष्फल होती है। गुणनिधि के आ जाने पर दोनों मिलकर राजपूताने के प्रत्येक गाँव में गरीबों और कंगालों के द्वार-द्वार पर घूमो। जिस प्रकार का भोजन तुम लोग करते हो, उसमें यदि लोगों को आपत्ति हो, तो उसे तुरन्त त्याग दो। लोक-हित के लिए घास खाना भी अच्छा है। गेरुआ वस्त्र भोग के लिए नहीं है; यह वीर-कर्म का ध्वज है। अपने शरीर, मन तथा वाणी को '**जगद्धिताय**' अर्पित करो। तुमने पढ़ा है – **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव** – 'अपनी माता को ईश्वर समझो, अपने पिता को ईश्वर समझो' – परन्तु मैं कहता हूँ – **दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव** – 'गरीब, निरक्षर, मूर्ख और दुखी – इन्हें अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही परम धर्म समझो।

किम् अधिकम् इति।

आशीर्वादपूर्वक सदैव तुम्हारा,
विवेकानन्द[३]

उपरोक्त पत्र के विषय में बाद में अखण्डानन्दजी ने कहा था – "उत्तर आया। ... पत्र पढ़कर ज्ञात हुआ – वहाँ तूफान उठा है। उनके विशाल हृदय में सेवाधर्म की जो लाट उठी थी, उसी ने आकर यहाँ (सीने पर हाथ रखकर) धक्का दिया। मेरे जीवन और कर्म की धारा उसी दिन निश्चित हो गयी।"[४]

नाथद्वारा में सेवा-आरम्भ

अखण्डानन्दजी को उदयपुर में रहते लगभग तीन माह हो चुके थे। इस दौरान महाराणा नाराज हो चुके थे, नागा लोग क्रोधित थे और मन्दिर के ब्रह्मचारीजी भी नाराज थे। ऐसी परिस्थितियों के बीच वे पाला-गणेशजी के मन्दिर में निवास कर रहे थे। अब उन्हें आगे चल देना ही उचित लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जुलाई माह के अन्त में ही उन्होंने नाथद्वारा के लिये प्रस्थान किया और वहीं पर कई महीने बिताये। अखण्डानन्दजी बताते हैं – "उदयपुर से यात्रा करने के कुछ काल पूर्व ही मुझे (कोलकाता के) मठ से स्वामी रामकृष्णानन्द का एक पोस्टकार्ड मिला, जिससे पता चला कि स्वामीजी ने सभी गुरुभाइयों को जीव-सेवा के कार्य में स्वयं को लगा देने का उपदेश दिया है। उदयपुर से एकलिंग होते हुए श्री नाथद्वारा चला गया। वहाँ रघुनाथजी भण्डारी के घर में अतिथि हुआ। वहीं शालग्राम व्यास जी के साथ परिचय हुआ। ये 'श्रीनाथजी' के गोस्वामी के प्रधानमंत्री थे और दो बार विदेश हो आये थे। इनके पास एक बड़ा अच्छा ग्रन्थालय था। उसमें से पुस्तकें लेकर मैं पढ़ा करता था।

"भण्डारीजी के घर में रहते हुए मैंने देखा कि उनका छोटा पुत्र पढ़ाई-लिखाई छोड़कर घूमते हुए खेलता रहता है। उसे पढ़ना सिखाने के लिये भण्डारीजी से अनुरोध करने पर वे बोले, 'महाराज, बड़े लड़के को पढ़ाने-लिखाने का बड़ा प्रयास किया था और बहुत धन भी खर्च किया। परन्तु वह मन्दबुद्धि है। भाग्य में जो लिखा होगा, वही होगा।' छोटे पुत्र गोपालसिंह को मैंने स्वयं ही पढ़ाना आरम्भ किया। क्रमशः आठ-दश लड़के पढ़ने के लिये आने लगे। इससे मेरे अपने स्वाध्याय में बाधा पड़ी। उसी समय पूर्व-परिचित क्षीरोदचन्द्र मित्र नामक एक युवक मुम्बई से मेरे पास आया। क्षीरोद थोड़ा अंग्रेजी पढ़ना-लिखना जानता था। इन छात्रों को पढ़ाने के लिये मैंने उसे हिन्दी की शिक्षा दी।

"शालग्राम व्यासजी की सलाह तथा सहायता से मैंने वहाँ एक मध्य-अंग्रेजी विद्यालय की स्थापना की। प्रति छात्र

३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३५७-५८

४. अखण्डानन्द के सान्निध्य में, पृ. ५०

दो रुपये शुल्क निर्धारित करके क्षीरोद को स्कूल का वेतनभोगी शिक्षक नियुक्त किया गया। स्कूल को क्रमश: प्रगति करते देखकर और उसकी नींव को सुदृढ़ करने के बाद मैं वहाँ से ओंकारेश्वर की ओर रवाना हुआ।''[५]

नाथद्वारा से उन्होंने अल्मोड़ा के लाला बद्रीशाह को हिन्दी में एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने देश की हालत का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है और अपनी तत्कालीन गतिविधियों से अवगत कराया है। अनुमान होता है कि यह पत्र उन्होंने अक्तूबर या नवम्बर (९४) महीने में लिखा होगा –

श्रीश्री रामकृष्णः शरणम् ।।

मेवाड़, नाथद्वारा

श्रीयुत साह जी महाशय !

आपका पत्र और एक पौण्ड यहाँ यथासमय पहुँच गया। स्वामी सुबोधानन्द जी के सकुशल मठ पहुँचने का समाचार पाकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ।

आजकल आपके यहाँ श्री गुरु महाराज की सेवा कैसी चल रही है? मठ से आपको बराबर समाचार मिलते रहते हैं या नहीं? आजकल आपके कौन-कौन से भाई पढ़ रहे हैं? आपका व्यापार कैसा चल रहा है? भाइयों को पढ़ाते जाइये। बिना काम समय को बेकार बरबाद नहीं करना चाहिये। आलस्य ही सभी अनर्थों का बीज है। इससे खूब सावधान रहना। भारत के लगभग सभी धनी लोगों में आज इस पाप-बीज की फसल खूब जोरों से हो रही है। जिनके घर में कुछ खाने को है, वे दूसरे किसी की परवाह नहीं करते और सारी पृथ्वी को ही तुच्छ समझते हैं। परन्तु वे मूढ़ नहीं जानते कि आज भारत में जो थोड़ा-बहुत सुख दीख पड़ता है, वह केवल एक तरह का छलावा मात्र है। नहीं तो आज भारत में किसी को रोटी तक नसीब नहीं है। अब इस दुर्दिन में भारत-वासियों को क्या-क्या कर्म करना चाहिए? मेरी समझ में तो पहले किसानों की उन्नति करनी चाहिए। क्योंकि भारत की जनता में प्राय: सभी किसान हैं। भारत में २५ करोड़ लोग हैं। उनमें से ८३ प्रतिशत लोग किसान हैं। सो अब आप ही सोचिये कि २५ करोड़ में कितने किसान होंगे? और ये लोग ही सर्व-साधारण के अन्नदाता और वस्त्रदाता हैं। परन्तु भारत में आज ऐसी भयंकर अवस्था हो रही है कि ये ही लोग नंगे रहते और भूखे मरते हैं। सिकन्दर बादशाह भारत के किसानों का हाल देखकर विस्मित रह गये थे। उन दिनों भारत की ऐसी राजकीय व्यवस्था थी कि देश में चाहे जैसी भी आपदा या विपदा हो, परन्तु वे लोग सर्वदा ही निरापद तथा निश्चिन्त रहते थे। आज इन्हीं लोगों पर हर प्रकार की आपदा-विपदा आ रही है। इस महापाप के दो लोग ही मुख्य कारण हैं – एक तो राजा लोग और दूसरे महाजन लोग। दोनों ओर से दो महा असुर इन्हें खाये जाते हैं, पर इसके बावजूद ये पवित्र निष्काम कर्मपरायण किसान लोग अपना स्वधर्म नहीं छोड़ते। अहा ! धन्य है इनकी नि:स्वार्थता ! धन्य है इनका धैर्य ! और धन्य है इनका श्रम ! ये लोग यदि आज नाराज होकर अपने-अपने हल और काम छोड़ दें, तो नगरवासी राजा तथा प्रजाओं का क्या हाल होगा? यह कोमल गद्दी फिर कहाँ से आयेगी? यह सरस अन्न फिर कहाँ से आयेगा? ये शाल-दुशाले कहाँ से आयेंगे? यह सारा धन उन्हीं के परिश्रम से सम्भव होता है और न्यायत: उन्हीं का प्राप्य और भोग्य है। परन्तु अत्याचारी राजा और नगरवासी प्रजा अन्याय करके उन्हें उनके उस श्रमसाध्य धन से वंचित कर रही है। तो भी मेषवत किसानों के पवित्र हृदय में प्रतिहिंसा रूपी कीट का प्रवेश नहीं हो सकता। अब इस बात में तो कोई शक नहीं कि वे किसान और परिश्रमी लोग ही मानव-समाज की मूल बुनियाद हैं और मानव-समाज रूपी शरीर के नाड़ी-जाल हैं। वे न हों तो मानव-समाज एक क्षण के लिए भी अस्तित्व में नहीं रह सकता।

अत: मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि आप वहाँ के पहाड़ी किसानों को अधिकांशत: अल्प ब्याज पर रुपये उधार दीजिये और अपने भाइयों में से किसी को कृषि-विद्या सिखवाइये। भारतीय किसान लोग कृषि-विद्या से ऐसे अनभिज्ञ हैं कि वे खेत में उचित मात्रा में खाद डालने का तरीका तक नहीं जानते। अब आप ही सोचिये कि जब मूल बुनियाद में ही ऐसी कमजोरी रहेगी, तो पूरी इमारत कैसे मजबूत रहेगी ! ऐसा कभी सम्भव नहीं है। इसीलिए मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपने स्वधर्म को न छोड़ें। गीता में भगवान ही कहते हैं – ''कृषि-गोरक्ष-वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम्।'' इनमें खेती और गोरक्षण ही सबसे प्रमुख है, क्योंकि गायों की उन्नति के बिना कृषि की उन्नति नहीं हो सकती और कृषि की उन्नति के बिना वाणिज्य की उन्नति नहीं हो सकती। अत: आप एक 'कृषि-गजट' मँगवाकर, उसका अनुवाद करवाकर उसकी जो भी तरकीब इस देश के लिए उपयोगी हो, उससे यदि आप वहाँ की भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ा सकें, तो उस कार्य से आपको आर्थिक लाभ होगा और किसानों को भी वह तरकीब ज्ञात हो जाने से पूरे भारत को महालाभ होगा।

मैं **स्वामी विवेकानन्द जी की आज्ञानुसार यहाँ की आम जनता में विद्या-प्रसार की चेष्टा कर रहा हूँ,** परन्तु यहाँ ऐसे कोई देशहितैषी नहीं हैं, जो मेरे इस कार्य में कुछ सहायता कर सकें। एक महीने से अधिक हो गया, मुम्बई से एक बंगाली बाबू यहाँ मेरे पास आये हैं, जो मेरे श्री श्री १०८ श्री गुरु महाराज के एक भक्त हैं। वे यहाँ के कुछ बालकों को पढ़ा रहे हैं। पर केवल उन्हीं से काम चलना

५. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. ११५-१६

कठिन है। क्या आपकी जानकारी में कोई ऐसे सदाशय महानुभाव हैं, जो अपना स्वार्थ त्याग करके भारत के गाँव-गाँव तथा नगर-नगर में विद्या तथा नीति दान कर सकें?

अधिक क्या लिखूँ! मेरे शुभ आशीर्वाद स्वीकार करें और सबको सूचित करें। इति।

आपका, **अखण्डानन्द**[६]

अखण्डानन्दजी की 'स्मृतिकथा' तथा उपरोक्त पत्र से ऐसा सिद्ध होता है कि उन्होंने स्वामीजी के निर्देशानुसार सेवा-कार्य नाथद्वारा से ही आरम्भ किया था।

खेतड़ी में रहते ही उन्हें पता चला था कि कुछ निहित स्वार्थ के लोग अमेरिका में स्वामीजी के धर्म-प्रचार कार्य में बाधा डालने की चेष्टा में रत हैं। इस दौरान उन्हें और भी जानकारी मिली कि स्वामीजी चाहते हैं कि भारत के प्रतिष्ठित हिन्दू लोग अमेरिकी जनता को सूचित करें कि स्वामीजी उनके प्रतिनिधि के रूप में वहाँ कार्य कर रहे हैं। इससे स्वामीजी के अमेरिकी कार्य में सुविधा होती। अखण्डानन्दजी ने नाथद्वारा से प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा –

मेवाड़, नाथद्वारा, **४ नवम्बर, १८९४**

श्रीश्रीरामकृष्णः शरणम्

"श्रील श्रीयुक्त बाबू प्रमदादास मित्र महाशय समीपेषु निवेदनमिदम्

महाशय बहुत दिन हुए आपका एक पत्र पाकर अत्यन्त आनन्दित हुआ था। आपने जिस पाण्डुलिपि की बात लिखी है, उसे भेजने के लिये मैंने मठ को लिखा था, वे लोग जैसा उत्तर देंगे, वही उचित होगा। इस विषय में यदि आप मठ में श्री रामकृष्णानन्द स्वामी को लिखें तो बड़ा अच्छा होगा। काशीधाम की पण्डित-मण्डली के हस्ताक्षरों से युक्त संस्कृत में एक धन्यवाद-पत्र भेजना ही काफी होगा। और काशीधाम के आप एक गणमान्य व्यक्ति हैं, अत: वहाँ आपके परिचित जितने भी प्रमुख लोग हैं उन्हें इस विषय में सहमत कराकर उनका हस्ताक्षर लेना, आप सहज ही कर सकेंगे। विलम्ब के विषय में आपने जो लिखा है, वह सत्य है, तथापि अब भी समय गया नहीं है। क्योंकि कोलकाता की महासभा भी तो धर्म-महासभा के काफी काल बाद हुई है। मुम्बई में भी एक सभा होने की सम्भावना है। अत: विलम्ब हो चुका है, ऐसा सोचकर अपना उद्यम त्याग मत दीजियेगा। इसके लिये यथासाध्य प्रयास करना होगा। आवश्यक लगे, तो यदि आप मठ से हमारे किसी संन्यासी को इस कार्य हेतु वहाँ बुलवा सकें तो और भी अच्छा होगा। मेरा अनुरोध है कि आप इस विषय में मठ को पत्र अवश्य लिखिये। हमारे मठ का पता शायद आप जानते हैं, तो भी आपको ठिकाना देता हूँ –

आलमबाजार मठ, पो. बरानगर, कोलकाता

महाशय, इन सभी देशी राज्यों की दुर्दशा की बात और क्या लिखूँ? यूरोप के किसी देश का दु:ख देखकर एडिसन ने जो कुछ लिखा था, सर्वदा उसी का स्मरण हो रहा है –

"How has kind heaven adorned the happy land.
And scattered the blessings with a wasteful hand!
But what avail her unexhausted stores.
Her blooming mountains and her sunny shores
with all the ... earth impart.
The smiles of nature and the charms of art.
While proud oppression in her valleys reigns.
And tyranny usurps her happy plains."

(कृपामय ने इस सुन्दर धरती को कैसा सजाया है !
उदार हाथों से इस पर आशीर्वादों की वर्षा की है।
पर इस पृथ्वी रूपी अवदान – सुशोभित पर्वत-मालाएँ,
रवि-रश्मियों से आलोकित समुद्र-तट, ये सभी
प्रकृति का हास्य और कला का सौन्दर्य प्रकट करते हैं,
जबकि उसकी घाटी में दम्भपूर्ण उत्पीड़न चलता है
और उसके सुखद मैदानों में अत्याचार शासन करता है।)

देशी राज्यों में जिधर भी दृष्टि डाली जाय, केवल tyranny, oppression, qruelity, fraud and corruption. (अत्याचार, उत्पीड़न, निष्ठुरता, जालसाजी और भ्रष्टाचार) ही दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब देशों के राजा तथा उमराव लोग किसी प्रकार के देशहित के लिये आन्दोलन चलाने को राजी नहीं हैं, बल्कि जो लोग देशहित के किसी कार्य हेतु आन्दोलन चलाने का प्रयास करते हैं, उनका पूर्ण नाश करने की चेष्टा करते हैं। इस रोग की क्या दवा है? मैंने इस देश के कुछ जमींदारों से बातें करके देखा है कि ये लोग बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह है कि उस पर ध्यान देने से वे लोग निश्चिन्त भाव से भोग, विलास तथा आराम की जिंदगी नहीं बिता सकेंगे। उस बात पर ध्यान देने पर, 'सुख-दु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' आदि भगवान की वाणी का स्मरण करते हुए तदनुसार कार्य करना होगा। भगवान की वाणी आज भला कौन सुनना चाहता है? सुख-दु:ख को समान मानने से राजा और जमींदार महाशयों को इतना सुख कहाँ से मिलेगा? महाशय, हमारे देश के राजा और जमींदारों की इस वंशगत निष्ठुरता को दूर करना परिश्रम से सम्भव नहीं है। इसके लिये विविध उपायों का अवलम्बन करना होगा। यह आसानी से नहीं जायेगा। समाचार-पत्रों के लेखकगण तो घर के कोने में बैठकर सरकार से देशी राज्यों के लिये कितनी खैरख्वाही करते हैं, परन्तु वे नहीं जानते कि सभी राज्यों में प्रतिदिन कितने अनर्थकर कार्य हो रहे हैं। अँग्रेजों के राज्य में प्रजा को कष्ट होने पर बोला तो जा सकता है, परन्तु राजा महाशयों से कहने पर तो जान की भी खैर नहीं। महाशय, आज संध्या हो गयी है, अत: इस

(शेष अगले पृष्ठ पर)

६. विवेक-ज्योति (त्रैमासिक), वर्ष १९९७, अंक ३, पृ. ७९-८०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(१०४) निज कारज खुद कर रे मीत

एक बार सन्त फजल एक शिष्य के साथ रेगिस्तान से जा रहे थे कि रात हो गई। तब वे एक सराय में गये। शिष्य ने ऊँटों को एक पेड़ के पास खड़ा किया और अल्लाह से प्रार्थना की – "हे परवरदिगार, तू ही सबका मालिक है। ये घोड़े मैं तेरे भरोसे यहाँ छोड़ रहा हूँ। इन पर नजर रखना।"

सुबह उठने पर जब वह बाहर आया, तो उसे ऊँट दिखाई नहीं दिये। खोजने पर भी उनका पता नहीं चला। फजल जब बाहर आये तो ऊँटों को वहाँ न देख उन्होंने पूछा –"ऊँट कहाँ गये?" शिष्य ने उत्तर दिया, "आप अल्लाह से पूछिये, क्योंकि मैंने उसे ऊँटों पर नजर रखने को कहा था।"

यह सुनकर सन्त को हँसी आई, बोले – "मूर्ख, तूने अल्लाह को ऊँटों पर नजर रखने को कहा था, यह तो ठीक है, मगर तेरा भी तो फर्ज था कि तू उन्हें पेड़ों से बाँधकर रखता। अल्लाह पर हमें भरोसा जरूर रखना चाहिये, लेकिन अपना काम खुद न करना इसमें कहाँ की अक्लमन्दी है। जो हाथ-पर-हाथ धरे बैठकर दूसरे के कन्धे का सहारा लेना चाहता है, उसको इसी प्रकार नुकसान उठाना पड़ता है।"

(१०५) आत्मज्ञान करे जगमग जग सारा

एक बार ऋषि याज्ञवल्क्य राजा जनक के दरबार में आये। उनके शास्त्र-ज्ञान से जनक बड़े प्रभावित हुए। जनक ने उनसे प्रश्न किया – "सच्चा प्रकाश कौन-सा है और उसका सही उपयोग किस प्रकार होता है?"

ऋषि ने बताया – "इस सृष्टि को पाँच प्रकार के प्रकाश मिलते हैं। पहला प्रकाश सूर्य देता है। उसके उदित होने पर उसके प्रकाश में सारे संसार के कार्य आरम्भ हो जाते हैं और सूर्य के अस्त होते ही सब काम बन्द हो जाते हैं। तब उसका काम चन्द्रमा का प्रकाश ले लेता है और लोगों को सूर्य-प्रकाश का अभाव नहीं खलता।"

"परन्तु चन्द्रमा का प्रकाश न रहने पर कौन-सा प्रकाश काम आता है?" एक जिज्ञासु मंत्री के पूछने पर ऋषि ने बताया – "तब अग्नि अँधेरे में राह दिखाती है।"

अगर आग उपलब्ध न हो या बुझ जाये, तो?" मंत्री के पूछने पर मुनि ने बताया – "तब आवाज पथ-प्रदर्शन करती है और यदि आवाज नाकाम हो जाये, तो आत्मज्ञान हमारे काम आता है। आत्मज्ञान तब होता है, जब हम अपने साथियों या आसपास के लोगों के साथ के सम्बन्धों में स्वयं का निरीक्षण करते हैं। आत्मज्ञान तब भी होता है, जब हम दूसरों के आचरण, हाव-भाव, पहनावा, बातचीत का तरीका आदि देखकर यह सोचने लगते हैं कि हमें वैसा नहीं करना चाहिये। आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ प्रकाश देता है।"

(१०६) परपीड़ा को अपनी जानो

एक बार गौतम बुद्ध से एक शिष्य ने पूछा – "मैंने सुना है कि जब प्रलय आता है, तो सारा संसार नष्ट हो जाता है। मगर प्रलय आने का वास्तविक कारण क्या है? क्या प्रलय में सारे संसार को समाप्त करने की ताकत होती है?"

"हाँ, प्रलय या कयामत जब आती है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है" – बुद्धदेव ने उत्तर दिया। फिर उन्होंने अन्य शिष्यों की ओर मुड़कर उनसे पूछा – "क्या तुम लोगों में से कोई प्रलय के आने का कारण बता सकता है?"

एक शिष्य ने कहा – "जब भगवान के प्रति इंसान के पापों का जब घड़ा भर जाता है, तब प्रलय आता है।" दूसरे ने कहा – "जब धरती मनुष्य के पाप के बोझ को सहन नहीं कर पाती, तब प्रलय आता है।" अलग-अलग शिष्यों ने अपनी-अपनी सोच के आधार पर अलग-अलग कारण बताये।

तब एक शिष्य ने कहा – "कमजोर आदमी की लाचारी के कारण अगर आँख से एक आँसू भी निकल पड़ा, तो वह प्रलय का कारण बन सकता है।" इस पर तथागत बोले – "हाँ, गरीब की बेबसी के कारण निकले आँसुओं का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि वह प्रलय का कारण बन जाता है। अतः हमें चाहिये कि हम दीन-दुखियों के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करें। उसकी पीड़ा को हमें स्वयं की पीड़ा समझनी चाहिये। यदि हम उनकी भलाई नहीं कर सकते, तो कम-से-कम उनके आँसू तो पोंछ ही सकते हैं।" ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सुदीर्घ प्रस्ताव को यहीं समाप्त करता हूँ।

आप मेरी ओर से विजया-दशमी का आलिंगन तथा श्रद्धा -सम्मान लेंगे तथा अन्य सभी को मेरा स्नेह देंगे। इति –

आपका, गंगाधर [७]

७. शरणागति और सेवा (बँगला ग्रन्थ), पृ. ८८-८९

❖ (क्रमशः) ❖
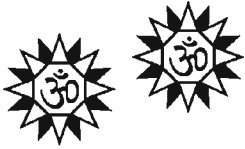
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
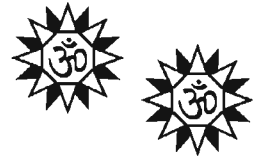
स्वामी बोधानन्द

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९० ई. में जब मैं कोलकाता के रिपन कॉलेज का छात्र था, तभी मुझे श्रीरामकृष्ण के बारे में जानकारी मिली और वह मेरे जीवन का सबसे बड़ा वरदान था। उस वर्ष अगस्त में मैं अपने कुछ सहपाठियों तथा मित्रों के साथ काँकुड़गाछी (कोलकाता) के श्रीरामकृष्ण-मन्दिर की स्थापना के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ था। वहाँ हमें पहली बार श्रीरामकृष्ण के एक महान् भक्त श्री रामचन्द्र दत्त के मुख से उनके बारे में जानकारी मिली। श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी श्रद्धा अवर्णनीय थी। जो लोग उन्हें व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, केवल वे ही इस बात की कुछ धारणा कर सकते हैं। हम लोग बहुधा गाते हैं – **त्वमेव माता च पिता त्वमेव; त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव; त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव; त्वमेव सर्वं मम देव देव**; परन्तु रामबाबू ने मानो इसके वास्तविक मर्म की अनुभूति कर ली थी। सचमुच श्रीरामकृष्ण ही उनके लिये 'सर्वस्व' थे। वे श्रीरामकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवी-देवता की पूजा नहीं करते; कभी काँकुड़-गाछी के समाधि-मन्दिर के सिवा किसी अन्य मन्दिर में नहीं जाते; और श्रीरामकृष्ण के मुख से सुने हुए धार्मिक उपदेशों के अतिरिक्त अन्य किसी भी धर्म-सिद्धान्त का प्रचार नहीं करते थे।

मास्टर महाशय (महेन्द्रनाथ गुप्त) हमारे प्राध्यापक थे। हमने सुना कि वे श्रीरामकृष्ण के शिष्य हैं। एक दिन हम उनके पास गये और अपना परिचय दिया। उनके साथ हमने श्रीरामकृष्ण के बारे में थोड़ी चर्चा भी की। उन्होंने हमें वराहनगर मठ जाने की सलाह दी, जहाँ श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य निवास करते थे। वे स्वभाव से ही बड़े गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे, परन्तु उन्होंने हमारे प्रति बड़ा मित्रवत् व्यवहार किया। उन्होंने हमें स्पष्ट रूप से बताया कि गृहस्थी में रहकर भक्ति करनेवाले और गृहत्याग कर अपना पूरा जीवन धर्म-साधना में लगाने वाले संन्यासी में बड़ा भेद है। उन्होंने एक उपमा देते हुए बताया कि गृही भक्त एक पके हुए किन्तु खट्टे आम के समान है, जबकि संन्यासी एक उत्कृष्ट कोटि का आम है, जो अभी तक पका नहीं है। मास्टर महाशय के दृष्टान्त बड़े सटीक हुआ करते थे। उन्होंने आगे कहा कि यदि हमें श्रीरामकृष्ण की शिक्षाओं के जीवन्त उदाहरण देखना हो, तो हमें मठ जाना चाहिये।

इसके थोड़े दिनों बाद हम मठ गये। पहली बार हम सीधे कॉलेज से ही मठ गये थे। जब हम वहाँ पहुँचे, तो अपराह्न के करीब ३ बज चुके थे। वहाँ सर्वप्रथम हमारी भेंट स्वामी रामकृष्णानन्द से हुई। वे हमें देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने हमारा हालचाल पूछा। जब उन्हें पता चला कि हम छात्र हैं, तो उन्होंने हमसे कुछ प्रश्न पूछे और अपनी पढ़ाई में ढिलाई न बरतने की सलाह दी। हम वहाँ ५-६ बजे तक रहे। ४ बजे मन्दिर के खुलने पर वे हमें वहाँ ले गये और हमें वेदी से कुछ फूल तथा प्रसाद भी दिये, जिन्हें हमने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया। हमने श्रीरामकृष्ण की चौकी पर स्थापित उनके चित्र और उस बाक्स को प्रणाम किया, जिसमें उनके अस्थि-अवशेष रखे हुए थे। उस समय वहाँ चार-पाँच अन्य संन्यासी भी थे। हमने एक-एक कर उन सभी को प्रणाम किया और उन लोगों ने भी बड़े स्नेहपूर्वक हमसे बातें कीं और आशीर्वाद के साथ शुभ-कामनाएँ प्रदान कीं। हमारे विदा लेते समय उन लोगों ने हमें पुन: आने का निमंत्रण दिया। हम पैदल घर लौटे और रास्ते भर इस अद्भुत यात्रा, संन्यासियों के त्याग तथा मठ के शान्तिपूर्ण परिवेश के बारे में चर्चा करते रहे।

मास्टर महाशय उन दिनों कम्बुलिया टोला (कोलकाता) में रहा करते थे। घर लौटते समय हम उनके मकान के पास रुके और उन्हें अपने मठ-गमन की सूचना दी। उन्होंने हमें बधाई देते हुए अनुरोध किया कि हम वहाँ बारम्बार जायें और वहाँ के संन्यासी-वृन्द के पाँव दबाना, उनके लिये तम्बाकू सजाना आदि उनकी व्यक्तिगत सेवा करें। उन लोगों का दर्शन तथा उनकी सेवा मास्टर महाशय के लिये मानो श्रीरामकृष्ण के ही दर्शन तथा सेवा के समतुल्य था।

स्वामीजी हाल ही में भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों की तीर्थयात्रा पर निकल चुके थे। इस बार वे एकान्तवास के इतने इच्छुक थे कि उन्होंने मठ के गुरुभाइयों को शायद ही कभी पत्र लिखे। वस्तुत: उन एक या दो वर्षों के दौरान कोई जानता ही नहीं था कि वे कहाँ हैं।

उन दिनों शशि महाराज, बाबूराम महाराज, महापुरुषजी, योगेन महाराज, काली महाराज तथा निरंजन महाराज मठ में निवास कर रहे थे। उन सभी ने हमें स्वामीजी तथा उनके प्रति श्रीरामकृष्ण के प्रेम; और श्रीरामकृष्ण तथा उनके स्वामीजी प्रति प्रेम के बारे में बताया। उनमें से कुछ ने हमें आश्वस्त किया कि (अमेरिका से) मठ लौटने के बाद स्वामीजी हमें प्रसन्नता के साथ संन्यास की दीक्षा प्रदान करेंगे।

बड़ी विचित्र बात यह है कि इसके कुछ वर्षों पूर्व (शायद १८८७ ई. में) जब मैं मेट्रोपॉलिटन स्कूल के बहूबाजार शाखा में पढ़ता था, उस समय स्वामीजी कुछ सप्ताह तक उस स्कूल के प्रधान शिक्षक थे और तभी मैंने उन्हें देखा था। मैं निचले दर्जे में पढ़ता था, अत: मुझे उनसे शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य तथा आनन्द नहीं मिल सका। परन्तु मैं प्राय: प्रतिदिन ही, जब वे स्कूल के परिसर में प्रवेश करते, तो अपनी कक्षा की खिड़की से उन्हें देखा करता था। मुझे अब भी वह दृश्य स्पष्ट रूप से याद है। उन्होंने पैंट तथा काला कोट पहन रखा था और अपने कन्धे पर करीब छह फीट का एक चादर लपेट रखा था। उनके एक हाथ में छाता और दूसरे में एक पुस्तक रहता, जो सम्भवत: एंट्रेंस कक्षा की पाठ्य-पुस्तक थी। चमकते हुए नेत्रों तथा मुस्कुराते हुए चेहरे के साथ वे इतने अन्तर्मुख दिखायी देते कि कुछ लोग तो उनके आकर्षक व्यक्तित्व से उनकी ओर आकृष्ट हो जाते और कुछ लोग उनकी चरम गम्भीरता के कारण उनके पास जाने का साहस नहीं जुटा पाते। पर वराहनगर मठ जाने के पूर्व तक मैं नहीं जान सका था कि प्रधानाचार्य के रूप में मुझे इतना अधिक प्रभावित करनेवाले स्वयं स्वामीजी ही थे।

स्वामीजी अमेरिका तथा यूरोप में अपना कार्य सम्पन्न करने के बाद १८९६ ई. के दिसम्बर में भारत की ओर लौट पड़े। १८९७ की जनवरी में कोलम्बो और फरवरी में वे कोलकाता पहुँचे। उन दिनों मैं कोलकाता के पश्चिम में २० मील दूर एक गाँव के हाईस्कूल में शिक्षक था। उन दिनों श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव दक्षिणेश्वर-मन्दिर के उद्यान में मनाया जाता था। मठ उन दिनों दक्षिणेश्वर से करीब दो मील दूर आलमबाजार में स्थित था। मेरे मठ में आने के एक दिन पूर्व फरवरी के अन्तिम या मार्च के प्रथम सप्ताह में उस वर्ष का जन्मोत्सव यथारीति सम्पन्न हुआ। वह एक शनिवार का दिन था, क्योंकि उन दिनों जन्मोत्सव वास्तविक जन्मतिथि के बाद वाले शनिवार के दिन हुआ करता था, जैसा कि अब रविवार के दिन होता है।

स्वामीजी उन दिनों अस्थायी रूप से मठ से करीब तीन मील दूर गंगा-तट पर स्थित एक भवन में निवास कर रहे थे। रविवार के दिन सुबह मैं वहाँ जाकर उनसे मिला। जब मैं उस भवन में पहुँचा, उस समय छह बजे थे, तथापि अँधेरा छाया हुआ था। स्वामीजी जल्दी उठा करते थे। उन्होंने पहले अपने कमरे की खिड़की से मुझे देखा और दरवाजा खोलने के लिये नीचे उतर आये। मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने बड़े स्नेहपूर्वक मेरा स्वागत किया, मानो वे काफी काल से मेरे परिचित रहे हों। उन्होंने मेरे साथ अनौपचारिक ढंग से बातें कीं और मुझसे एक गिलास पानी लाने को कहा। इसके बाद वे अपना मुख धोने लगे। जब उन्हें पता चला कि मैं अपनी परीक्षा की तैयारी कर रहा हूँ, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और मुझे अपना आशीर्वाद दिया। महापुरुषजी भी वहीं उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी को बताया कि मैं मठ में कई वर्षों से आनेवाली युवकों की एक टोली का सदस्य हूँ और मठ में सम्मिलित होने की योजना बना रहा हूँ। यह सुनकर स्वामीजी ने कहा वे निकट भविष्य में मुझे दीक्षा देकर संन्यासी बना लेंगे। उनके ये शब्द सुनकर मेरे स्वप्न के साकार होने की आशा उज्ज्वल हो उठी।

जन्मोत्सव के कुछ दिनों पूर्व – सम्भवत: श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि के दिन ही स्वामीजी ने चार ब्रह्मचारियों को संन्यास में दीक्षित किया और दो-एक भक्तों को मंत्रदीक्षा भी दी। लगभग आठ बजे वे मठ में पहुँचे। उनकी अनुमति से मैं भी उनके साथ एक ही गाड़ी में आया था। वहाँ पहुँचने के बाद शीघ्र ही उन्होंने स्नान किया और मन्दिर में ध्यान करने चले गये। हम भी उनके पीछे-पीछे गये। यह एक अत्यन्त प्रेरणादायी अवसर था।

करीब ११ बजे वे दक्षिणेश्वर के मन्दिर-उद्यान में गये, जहाँ जन-समारोह चल रहा था। उद्यान में लोगों की बड़ी भीड़ एकत्र थी और उस भीड़ का एक कारण स्वामीजी की उपस्थिति भी थी। अनेक लोगों ने उनसे पंचवटी के पास एक व्याख्यान देने का अनुरोध किया। परन्तु भीड़ उन्हें देखकर आनन्द से इतनी मतवाली तथा शोर-शराबे में मग्न थी कि उनके लिये वहाँ भाषण दे पाना सम्भव नहीं हो सका। लगभग एक बजे वे विश्राम करने मठ में लौटे। उस पूरे दिन मुझे उनके साथ रहने और सेवक के रूप में थोड़ी-बहुत व्यक्तिगत सेवा करने का सौभाग्य मिला था। वह मेरे जीवन का सर्वाधिक स्मरणीय दिन था। उस दिन की स्मृति मेरे मन में चिर काल के लिये अंकित हो गयी। आज भी जब मैं उसके बारे में सोचता हूँ, तो मानो उसी दिन के समान रोमांच का अनुभव करता हूँ।

अगले दिन मुझे बड़ी अनिच्छा के साथ अपने स्कूल के कार्य हेतु लौटना पड़ा। उस अपूर्व अवसर की कृतज्ञता तथा कृतार्थता का भाव कई दिनों तक मेरे मन में बना रहा। मैं पुन: स्वामीजी का दर्शन करने और उनसे और भी कृपा तथा मार्ग-दर्शन पाने को आकुल था।

(प्रबुद्ध भारत, अक्तूबर १९३४ से)

माँ की स्मृतियाँ (३)

लावण्य कुमार चक्रवर्ती

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

एक अन्य समय की बात है। महाष्टमी के दिन, श्रीदुर्गा प्रतिमा की पूजा हो जाने के बाद, बहुत-से भक्त माँ को पुष्पांजलि देने के लिये नीलाम्बर-भवन की ओर चले जा रहे थे। माँ एक छोटी-सी चौकी पर बैठी थीं। समीप ही पूजनीया गोलाप-माँ बैठी थीं – जो हाथ में पंखा लिये माँ को हवा कर रही थीं। लोग एक दरवाजे से आ रहे थे और प्रणाम के बाद दूसरे दरवाजे से बाहर निकल रहे थे। एक के पीछे एक – लाइन लगी हुई थी। प्रवेश-द्वार के बगल में पूजनीय शरत् महाराज बैठे थे। जब मैं माँ के पास पहुँचा, उस समय मेरे पहले के भक्त पुष्पांजलि दे रहे थे। वे प्रणाम करने को झुककर मंत्रोच्चारण करते रहे – उठे ही नहीं।

गोलाप-माँ ने कहा – "अरे भाई, इतने भक्त बाकी हैं! इस भीड़ के बीच गर्मी में क्या माँ को कष्ट नहीं हो रहा है? इतना लम्बा प्रणाम क्यों?"

यह बात ज्योंही शरत् महाराज के कानों में गयी, वे बोल उठे – "गोलाप-माँ, वह अपनी सारी कामनाएँ, सारी आकांक्षाएँ निवेदित नहीं करेगा क्या? – **रूपं देहि, जयं देहि, भार्यां मनोरमां देहि** – कितना सब! जल्दी क्यों कर रही हैं?"

सभी भक्त जोरों से हँस पड़े, देखा – माँ भी थोड़ा-सा हँसी। भक्त बिना कुछ कहे भाग निकला। यह शरत् महाराज के pinching remark (चुटीली टिप्पणी) का फल था।

यहाँ बहुत-सी बातों में से एक अन्य बात भी याद आती है। यह माँ के देहत्याग के बाद की घटना है।

उद्बोधन में शरत् महाराज के कमरे में कई भक्तों के साथ मैं भी बैठा था। एक वृद्ध सज्जन ने इधर-उधर की बातों के बाद महाराज से पूछा – "महाराज, ठाकुर के मन्दिर से पहले माँ का मन्दिर क्यों बना? यह क्या ठीक हुआ?" यहाँ यह बता देना उचित होगा कि उस समय माँ के जन्मस्थान जयरामबाटी में माँ के मन्दिर का निर्माण-कार्य चल रहा था।

शरत् महाराज जरा-सा उनकी ओर देखकर बोले – "यह बात ठाकुर या माँ से पूछने पर ही उत्तर मिलेगा। मुझे तो लगता है कि इस काम में हाथ लगाने से पहले यदि तुमसे भेंट हो जाती, तो सब पलट जाता।"

हम लोग बिना हँसे नहीं रह सके। उतरे हुए चेहरे के साथ वे सज्जन बोले – "नहीं, ऐसे ही पूछ रहा था।"

एक अन्य समय की बात है। उस बार भी दुर्गापूजा हो रही थी। पूजा के उपलक्ष्य में माँ बेलूड़ मठ गयी थीं। मठ के उत्तर की ओर के उद्यान-भवन (लेगेट हाउस) में ठहरी थीं। सम्भवत: नवमी के दिन, दोपहर के बाद गोलाप-माँ ने आकर कहा – "शरत्, माँ तुम्हारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न हुई हैं।" बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) बगल में ही थे। अनेक साधु-भक्तगण वहाँ उपस्थित थे। शरत् महाराज आनन्द-गम्भीर कण्ठ से – "ऐसा है!" कहकर बगल में खड़े बाबूराम महाराज की ओर देखकर आवेगपूर्ण कण्ठ से बोले – "बाबूराम दादा, सुना आपने?" उस समय बाबूराम महाराज के नेत्र-मुख पर भी स्पष्ट रूप से सार्थकता-जनित आनन्द झलक रहा था। उस समय दोनों आनन्द से क्या ही गले मिल रहे थे! शरत् महाराज का वह आवेग-कम्पित कण्ठस्वर आज भी मेरे कानों में गूँजता है। 'उद्बोधन' में (वर्ष २७, अंक ११, पृ. ६६३) प्रकाशित मेरे 'प्रेमानन्द-स्मृति' लेख से इस घटना को लेकर स्वामी गम्भीरानन्द ने अपनी माँ की जीवनी के 'बेलूड़ और काशी' अध्याय में दिया है।

दुर्गोत्सव का समय था। षष्ठी के दिन माँ की गाड़ी मठ के फाटक पर आकर ठहरी। स्वामी प्रेमानन्द आदि श्रीरामकृष्ण के लीला-सहचर-गण घोड़े को हटाकर गाड़ी को खींचते हुए मठ-प्रांगण में ले आये हैं। सबके सम्मिलित कण्ठ से – "जय श्री गुरु महाराजजी की जय", "जय महामायी की जय" – की ध्वनि से भक्त-मण्डली का शरीर हर्षोल्लास से रोमांचित हो उठा है। प्रेमानुराग से रंजित मुख के साथ स्वामी प्रेमानन्द आनन्द से लड़खड़ा रहे हैं। उनके नेत्र-मुख से मानो आनन्द छलक रहा है। अपने नेत्रों से यह स्वर्गीय दृश्य देखकर मैं धन्य हो गया। इन सर्वत्यागी संन्यासियों की अपनी गुरुपत्नी के प्रति गम्भीर श्रद्धा देखकर, गुरुभक्ति क्या चीज है – इसकी थोड़ी-सी धारणा मुझे हुई है।[४] स्वामी

४. स्वामी गम्भीरानन्द ने इस घटना को १९१२ ई. की दुर्गापूजा के समय का बताया है, पर लेखक की स्मृतिकथा से लगता है कि दोनों घटनाएँ १९१५ ई. या उसके बाद की किसी पूजा के समय की हैं।

गम्भीरानन्द ने माँ की जीवनी में यह घटना उद्बोधन में प्रकाशित मेरी पूर्वोल्लेखित प्रबन्ध से लिया है।

एक बार मैं माँ को प्रणाम करने गया था। साथ में मेरे एक मित्र-स्थानीय सम्बन्धी युवक भी थे। वे माँ को प्रणाम करके जोरों से रोने लगे। सेवक ब्रह्मचारी ने उनसे बाहर चले जाने को कहा। मैंने देखा – माँ भी थोड़ी नाराजगी बोध कर रही हैं। बरामदे में खड़े होकर मुझे भी थोड़ा अटपटा लग रहा था। मैंने ब्रह्मचारीजी से कहा – "आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? माँ क्या आपकी निजी सम्पत्ति हैं – हम लोगों की कुछ भी नहीं?" ब्रह्मचारी बोले – "महाशय, क्या आपने देखा नहीं, उन्होंने कैसा उत्पात शुरू कर दिया है।" उधर माँ उन्हें तत्काल समझाने लगीं – "शान्त हो जाओ बेटा, शान्त हो जाओ। बोलो, क्या चाहिये?" वह माँ से केवल इतना ही कहे जा रहा था – "माँ, कृपा करो, कृपा करो।" माँ उसके सिर पर हाथ फेर रही थीं और कह रही थीं – "बेटा, कृपा तो है ही – तुम शान्त हो जाओ।" मित्र ने धीरे-धीरे शान्त होकर माँ को प्रणाम किया और बाहर आये।

उन्हें साथ लेकर मैं नीचे पूज्य शरत् महाराज के पास गया। उन्होंने पूछा – "लावण्य, ऊपर क्या घटना हुई?" मैंने संक्षेप में घटना का वर्णन किया। वे हँसते हुए बोले – "पूर्वी बंगाल के लोग बड़े भावुक होते हैं। कई लोग इस प्रकार का आचरण कर बैठते हैं। एक बार जेसोर का एक भक्त अपने पहने हुए वस्त्र में एक छुरा छिपाकर माँ को प्रणाम करने लगा। प्रणाम करने के बाद वह माँ को छुरा दिखाकर बोला – "माँ, अपना स्वरूप दिखाओ।" माँ को मौन देखकर वह पुन: बोला – "नहीं दिखाने पर यह देखो, मैं यह छुरा अपनी छाती में मार लूँगा।" माँ भयभीत होकर उठीं और उसके छुरे को पकड़कर बोलीं – "इसे छोड़ो, क्या स्वरूप देखोगे? (अंगुली से अपने श्रीमुख की ओर संकेत करते हुए) इस बार यही रूप है।" स्वरूप-दर्शन का आकांक्षी उनमें न जाने क्या देखकर शान्त हो गया।

"भावुकता में अनेक दोष हैं। एकत्र होते न होते ही खर्च करना हानिकारक है। पहले हजम करने की शक्ति अर्जित करनी चाहिये। प्रयास तथा अभ्यास से वह हो जाता है। तब भाव के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, असाध्य-साधन तक होता है। मगर उसके पहले भावुकता नितान्त हास्यकर है।"

अपनी 'माँ की स्मृतिकथा' के प्रकाशन के विषय में स्वामी सारदानन्द महाराज ने एक पत्र (६-८-१९२१) में मुझे एक निर्देश दिया था। उन्होंने लिखा था – "तुममें लिखने की क्षमता है। परन्तु किसी विषय को किस प्रकार लिखने से लोग ठीक-ठीक (माँ के वैशिष्ट्य, वक्तव्य, आचरण तथा उपदेशों का तात्पर्य) समझ सकेंगे और किसी घटना को कहाँ तक प्रकट करना उचित होगा – ये सभी बातें सीखनी होंगी। अनेक स्थानों पर लेखनी को संयमित रखना पड़ता है।" पूज्यपाद महाराज के निर्देश को मैं सर्वदा सतर्कता के साथ स्मरण रखने का प्रयास करता हूँ।

नीचे कुछ घटनाएँ तथा माँ की उक्तियाँ प्रस्तुत करता हूँ। इनमें से कुछ मेरी अपनी आँखों से देखी हुई हैं, कुछ अपने कानों से सुनी हुई हैं और कुछ अन्य विश्वसनीय प्रत्यक्ष-दर्शियों से प्राप्त हुई हैं।

(१)

माँ – ठाकुर कहा करते थे – "मार्ग छुरे की धार के समान है। परन्तु वे पकड़े हुए हैं, गोद में लिये हुए हैं, वे ही देख रहे हैं।"

सेवक – कहाँ, कुछ भी तो जानने नहीं दे रहे हैं!

माँ – यही तो दु:ख की बात है।

सेवक – हाँ, इसी को तो दु:ख की बात मानता हूँ।

एक भक्त – मरने पर तो ठाकुर गोद में उठा लेंगे, उसमें कौन-सी बड़ी बात है? यदि इस देह के रहते ही ...।

माँ – इसी देह में गोद में लिये हुए हैं। सिर के ऊपर वे हैं, ठीक पकड़े हुये हैं।

भक्त – ठीक हम लोगों को पकड़े हुए हैं?

माँ – हाँ, ठीक पकड़े हुए हैं।

भक्त – सच कह रही हैं?

माँ – सच कह रही हूँ – ठीक पकड़े हुए हैं।

भक्त – ठीक?

माँ (दृढ़ता के साथ) – हाँ, ठीक।

(२)

एक भक्त – माँ, लोग तुम्हें भगवती कहते हैं।

माँ – लोग क्या कहेंगे, मैं स्वयं ही कह रही हूँ।

(३)

एक बीमार साधु – माँ, ठाकुर क्या केवल परलोक के लिये हैं?

माँ – नहीं, वे इहलोक के लिये भी हैं और परलोक के लिये भी हैं।

(४)

माँ – ठाकुर कहा करते थे, "जो मुझे (ठाकुर को) पुकारेंगे, उनके लिये मुझे उनके अन्तिम समय में आना होगा।" यह उनके अपने मुख की वाणी है।

(विनीत भाव से कह रहा हूँ, मैंने कई विश्वसनीय लोगों से सुना है – ठाकुर और माँ के कृपा प्राप्त भक्त को अन्तिम समय में ठाकुर और माँ दर्शन देकर हाथ पकड़कर ले जाते

हैं। ठाकुर ने माँ से कहा है, "तुम्हारे कृपाप्राप्त भक्त को अन्तिम समय में मैं स्वयं आकर ले जाऊँगा।"

(५)

स्वामी धीरानन्द महाराज बेलूड़ मठ से बीच-बीच में माँ का दर्शन करने बागबाजार जाते। वे माँ के मन्दिर तक नहीं जा पाते, भावविह्वल हो उठे। स्वामी सारदानन्द महाराज को साथ लेकर नीचे के आंगन में खड़े रहते। माँ बरामदे में आकर प्रणाम स्वीकार करतीं और आशीर्वाद देतीं।

(६)

माँ से मंत्रदीक्षा पाने के बाद एक भक्त ने एक बार उनसे पूछा – "माँ, बचपन से ही योगशास्त्र के अनुसार योगाभ्यास करने की मेरी हार्दिक इच्छा थी। योगाभ्यास शुरू करूँ क्या?

थोड़ी देर तक चुप रहकर माँ हँसते हुए बोलीं – "जिसकी प्राप्ति के लिये साधक योगाभ्यास करते हैं, वह तो तुम्हारा हो ही गया है, बेटा! अब तुम्हें उसकी क्या आवश्यकता है? उसमें त्रुटि होने पर हानि भी होती है। तुम्हें उसकी आवश्यकता नहीं है।"

भक्त – माँ, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

माँ – समझोगे, धीरे-धीरे समझोगे।

इस भक्त ने थोड़े दिनों बाद ही समझ लिया और उन्हें कई प्रमाण मिले कि माँ के वाणी सत्य है। उन्हें यहाँ तक पता चला कि अन्त काल में उनकी योगियों जैसी गति होगी।

(७)

माँ की बगल में दीक्षा के आसन पर बैठे एक भाग्यवान दीक्षार्थी भक्त ने माँ से कहा– "विश्वास नहीं हो रहा है, माँ।"

माँ ने हँसकर कहा – "भले न हो, दे रही हूँ, ले लो।"

लेना देना हो गया। बाद में इस भक्त ने मठ तथा मिशन का बहुत-सा कार्य किया और मैंने देखा है कि अत्यन्त उत्तर-दायित्वपूर्ण कर्म में लगे रहने के बावजूद दिन का अधिकांश समय जप-ध्यान में तन्मय होकर बिताया करते थे।

(८)

एक बार बेलूड़ मठ में दुर्गापूजा के उत्सव के दौरान माँ सुबह-सुबह कुछ भक्त-महिलाओं को साथ लेकर रसोईघर के बगल से होकर जा रही थीं। उस ओर देखकर माँ बोलीं – "लड़के भी अच्छी तरह सब्जी काट ले रहे हैं।"

स्वामी जगदानन्द महाराज ने हाथ जोड़कर कहा – "चाहे सब्जी काटें, या मसाला पीसे, या जप-ध्यान करें – हमारा एकमात्र उद्देश्य ब्रह्ममयी को प्रसन्न करना है।"

माँ ने हँसकर कहा – "वह तो ठीक है बेटा।"

वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने माँ को प्रणाम किया।

(९)

एक भक्त – ठाकुर को बहुत-से लोग भगवान कहते हैं। तो फिर आप कौन हैं?

माँ – वे यदि भगवान हैं तो मैं भगवती हूँ।

एक बार एक भक्त ने शरत् महाराज से पूछा – "ठाकुर स्वयं तो भगवान हैं। तो फिर माँ क्या हैं?"

शरत् महाराज बोले – "तब क्या भगवान ने एक गोबर उठानेवाली स्त्री के साथ विवाह किया था? अच्छे बुद्धू हो!" (ठाकुर ने स्वयं ही कहा था – "मैंने क्या साग-भाजी खानेवाली से विवाह किया है?"

किसी आश्रम अध्यक्ष के साथ न जम पाने के कारण एक साधु वह आश्रम छोड़कर अनिश्चित स्थान की यात्रा करने के पूर्व माँ का दर्शन करने गये। साधु ने अन्य अनेक बातों के बीच कातर कण्ठ से पूछा – "माँ, घर, माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों को छोड़कर मैंने आश्रम-जीवन अपनाया है। पर यहाँ भी तो संसार के समान ही दावे और झगड़े-झंझट हैं।"

माँ – "बेटा, आश्रम भी दूसरा संसार है। परन्तु यहाँ झगड़े-झंझट के बीच भी उनका अधिक सान्निध्य मिलता है।

(१०)

माँ ने एक भक्त से कहा था – "बेटा, पर-गृहवासी और पर-अन्नभोजी मत होना, यह बड़ा कष्टकर है।"*

* उद्बोधन, वर्ष ९७, अंक ८, आश्विन १४०२, पृ. ४७७-४८६

कितनी खेती : कितना धन !

रामेश्वर टांटिया
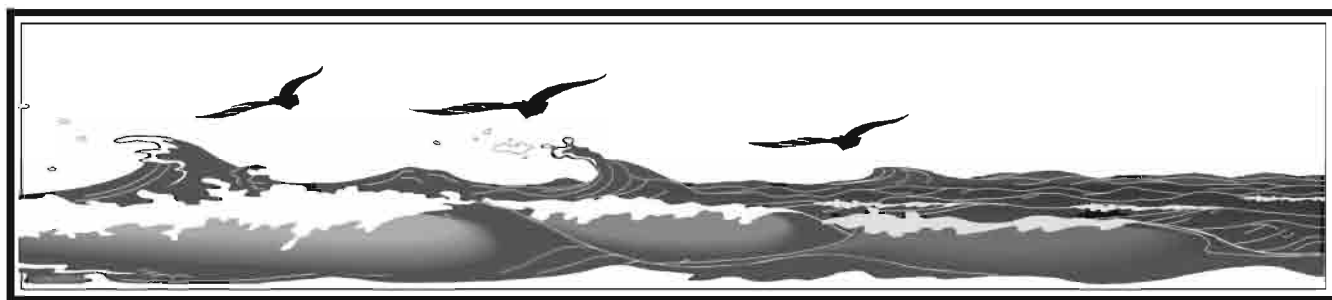
राजस्थान के किसी गाँव में एक सुखी किसान परिवार था। पति-पत्नी और एक पुत्र, पचास बीघे जमीन और दो-फसली खेती। रहने के लिये अपना एक छोटा-सा मकान था। कड़ी मेहनत करके अपने निर्वाह के लायक अन्न पैदा कर लेते। कुछ बच जाता, तो वह पास-पड़ोस, अतिथि-अभ्यागत और साधु-सन्तों के काम आ जाता।

एक दिन एक रिश्तेदार शहर से आकर किसान के घर ठहरा। उसके बच्चे जरी-गोटे के कपड़े पहने थे और स्त्री आभूषणों से लदी थी। किसान-पत्नी के पूछने पर अतिथि की स्त्री ने बताया कि ये गहने सोने के हैं और उनमें सचमुच के हीरे-जवाहरात जड़े हुए हैं। उसने यह भी बताया कि बड़े आदमियों की यही शोभा है।

दो-तीन दिन रहकर मेहमान तो चले गये, परन्तु कृषक-पत्नी के मन में एक तीव्र आकांक्षा छोड़ गये। उसे रात-दिन उन गहनों का ख्याल बना रहता। सोती तो सपने में जड़ाऊ गहने नजर आते। बच्चा भी बीच-बीच में गोटे-किनारी के कपड़ों के लिये मचल उठता। पत्नी के बार-बार कहने पर, कुछ दिनों बाद, किसान अपने गाँव के जमींदार के यहाँ गया और 'उधारी' पर पचास बीघे जमीन खरीद ली। दोनों ने डटकर मेहनत करनी शुरू कर दी। संयोग से वर्षा भी समय पर होती गई। दो-तीन वर्षों में ही जमीन की कीमत अदा हो गयी। आगे चलकर उसने सौ बीघे जमीन और ले ली। अब उसके पास दो-सौ बीघे जमीन हो गई और उसकी गणना सम्पन्न किसानों में होने लगी। पहले का 'परसा' किसान अब 'परसरामजी' बन गया। ड्योढ़ी पर चार जोड़ी अच्छे बैल, एक रथ और दो ऊँट शोभा बढ़ाते। पत्नी के पास, सोने के तरह-तरह के जड़ाऊ-गहने हो गये। बच्चा भी बड़ा होकर स्कूल जाने लगा। घर में बहुत से नौकर-चाकर थे।

खेती-बारी के अतिरिक्त वह 'बोहरगत' (उधार देने का व्यापार) भी करने लगा। इससे कमाई के साथ-साथ साख भी बढ़ी। मगर इतना सब होने पर भी परसराम का चित्त, अशान्त रहने लगा। पड़ोसी-गाँव के जमींदार के पास उससे भी ज्यादा जमीन थी। वह सोचता कि उनके दरवाजे पर हाथी, कितनी मस्ती से झूमता रहता है, जबकि मेरे पास तो केवल ऊँट है। उसे धुन सवार हुई कि किसी प्रकार जमींदार से अधिक समृद्ध बनना है। दैवयोग से एक दिन उसे खबर मिली कि बीकानेर रियासत के गंगानगर अंचल में नहर आनेवाली है और वहाँ बड़े सस्ते दामों में जमीन मिल रही है, जो आगे चलकर सोना उगलेगी।

यह बात उसके मन में बैठ गई। उसने पत्नी और पुत्र को गंगानगर में जमीन लेने का अपना विचार बताया। उन लोगों ने कहा – "सुना है वहाँ आबादी नहीं है, वीरानी जगह है, बाघ-भेड़िये घूमते रहते है। हमें ईश्वर ने सब कुछ दे रखा है, फिर इस ढलती उम्र में वहाँ जाकर खतरा मोल लेने की क्या जरूरत है?" परन्तु परसराम को तो ज्यादा-से-ज्यादा धन की चाह लगी हुई थी। मेहनत से वह जीवन भर कभी पीछे नहीं हटा और उसे इसका फल भी मिला था, अत: वह अपने निश्चय पर अडिग रहा। वह अपने साथ यथेष्ट रुपये लेकर गंगानगर के लिये रवाना हो गया। कई दिनों की यात्रा के बाद वह वहाँ जा पहुँचा। काफी थक गया था, कुछ ज्वर भी हो आया। अगले दिन अधिकारियों से मिला। पता चला कि जमीन की कीमत प्रति-मुरब्बा सात-सौ रुपये है। नहर के किनारे चकबन्दी में, जितनी चाहे उतनी जमीन खरीद सकता है। नहर निकल आने पर, तीन वर्षों के अन्दर ही जुताई शुरू कर देनी होगी और दस वर्ष तक किसी को जमीन बेच नहीं सकेगा। परसराम खेती की नस-नस पहचानता था। निजी अनुभव था। नहर के आने पर जमीन क्या-से-क्या हो जायेगी, वह जानता ही था। इसीलिये पंजाब से अनेक समृद्ध किसान भी आये हुये थे। उसने सोचा - "ज्यादा-से-ज्यादा जमीन ले ली जाय, वरना मौका हाथ से निकल जायेगा।"

उन दिनों सवारियों की व्यवस्था वहाँ नहीं थी। बीमार होने के बावजूद वह पैदल ही निकला था और अच्छी-से-अच्छी जमीन की जाँच के लिये उसे दूर-दूर तक चलना पड़ा था। मेहनत एवं थकान से उसका बदन टूटने लगा, बुखार तेज हो गया, परन्तु जैसे ही लौटने की सोचता, तो सामने और भी अच्छी जमीन नजर आती। वह बीमारी की परवाह न करके और आगे बढ़ जाता। जब तक वह डेरे पर वापस पहुँचा, उस समय उसकी हालत बहुत ही खराब हो गई थी।

समाचार पाकर चार-पाँच दिन बाद जब उसकी पत्नी और पुत्र गाँव से वहाँ पहुँचे, तो उस समय वह सन्निपात में बड़बड़ा रहा था – "जमीन बहुत अच्छी है, ... खूब पैदावार होगी, ... अनाज की जगह सरसों और कपास लगायेंगे, ... आदि, आदि।" वहाँ जो भी थोड़ा-बहुत इलाज सम्भव था, सब किया गया, किन्तु उसे बचाया नहीं जा सका।

वहाँ के लोगों ने मरघट में पाँच हाथ जमीन साफ करके परसराम के पुत्र के हाथों वहीं उसकी दाह-क्रिया सम्पन्न कर दी। ❑❑❑

दैवी सम्पदाएँ (२५) अद्रोह

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

अद्रोह अर्थात् किसी से द्रोह, द्वेष या शत्रुता न करना दैवी गुण है। गीता की दैवी सम्पदाओं में इसकी गणना है। यह अहिंसा का भाव है। इसमें किसी दूसरे को किसी भी प्रकार से चोट या क्षति पहुँचाने का भाव नहीं होता।[१] जब हमारे मन-मन्दिर में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है, तब वैर का विषवृक्ष निर्मूल हो जाता है। अहिंसा की उपासना में वैर का त्याग अनिवार्य है।[२] जैसे प्रकाश और अँधेरा दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते, वैसे ही अहिंसा और द्रोह का अस्तित्व एक साथ सम्भव नहीं है। द्रोह क्रोध का स्थायीभाव है, जब किसी के प्रति हमारा क्रोध स्थायी हो जाता है और अवसर पाते ही मन प्रतिशोध को उद्यत रहता है, तब हमारा वह भाव द्रोह कहलाता है। द्रोह में अपकार का भाव होता है।[३] हम द्रोह-पात्र का अहित, अपकार, बुरा चाहते हैं। द्रोह का पर्याय द्वेष है और द्वेष राग का विरुद्धार्थी है। गीता में 'राग-द्वेष' प्राय: युग्म रूप में प्रयुक्त हुये हैं राग का अर्थ आसक्ति है और द्वेष का अनासक्ति। अनासक्ति से तटस्थता, उपेक्षा एवं उदासीनता की अभिव्यक्ति होती है। इससे एक प्रकार की निष्क्रियता का बोध होता है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है, सक्रिय सकारात्मक चेतना प्रशान्त होती है और नकारात्मक सक्रिय चेतना राजसी तथा तामसी रूप में वायु के समान प्रवाहित प्रतीत होती है। द्वेष या द्रोह से विरोधपरक विध्वंसात्मक चेतना की सक्रियता सर्वथा नकारात्मक होने से कल्याणी नहीं है। राग-द्वेष को ही आकर्षण-विकर्षण तथा आसक्ति-अनासक्ति से अभिहित किया जा सकता है। मान-अपमान, जय-पराजय, लाभ-हानि, हर्ष-विषाद, जीवन-मृत्यु, उत्पत्ति-विनाश, संयोजन-वियोजन, व्यक्त-अव्यक्त, सुख-दु:ख, सत्-असत्, गति-अगति, और प्रेम-जुगुप्सा, आदि उसी राग-द्वेष के द्वन्द्वात्मक रूप हैं। इन द्वन्द्वात्मक भावों का "मूल स्रोत पुरुषोत्तम ब्रह्म की वह परा शान्ति की स्थिति है, जिससे एक ओर कर्म प्रवाहित होता है और दूसरी ओर अकर्म की स्थिति भी रहती है।"[४] इस द्वन्द्व-मोह से जो निर्मुक्त है, वह परमात्मा का प्रिय भक्त है।

राग-द्वेष शरीर की विशेषता है। द्वन्द्वात्मक भाव परमात्मा से नि:सृत होते हैं, सारे भाव प्रभु से ही प्रवर्तित होते हैं।[५] मानव प्रकृति के हाथ की कठपुतली है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति-अनासक्ति, आकर्षण-विकर्षण उसके स्वभाव से जुड़ी है।[६] स्वभाव जीव के विकास का वह स्तर है, जिसे उसने जीवन-संघर्षों तथा अनेक वर्षों या जन्मों के दीर्घ प्रयासों के फलस्वरूप पाया है। इसी का परिष्करण जीवन-साधना का लक्ष्य, प्राप्तव्य और गन्तव्य है। इच्छा-द्वेष से समुत्पन्न द्वन्द्व-मोह से भला कौन सम्मोहित नहीं होता?[७] पर इससे जो जितना निर्मुक्त होने की और मानवता के मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ने का प्रयास करता है, उतना ही उसकी चेतना का आरोहण होता है और तदनुरूप स्वभाव का स्तर निर्धारित होता है। इस प्रक्रिया में अभीप्सा एवं संकल्प का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना जीव का अधोगामी होना निश्चित है। अत: उसे चाहिये कि वह द्वन्द्वों का दास न बने। राग-द्वेष, आसक्ति-अनासक्ति के वशीभूत न हो। अपनी प्रकृति के अनुसार अभीप्सा एवं संकल्प के बल पर इनसे मुक्ति पाने की चेष्टा करे।

मनुष्य द्वेष क्यों करता है? क्योंकि उसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का निवास है। जब कोई व्यक्ति कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा करता है, उसमें किसी के बाधक बनने की आशंका या विश्वास करता है, तो उसके प्रति वह द्वेष करता है। अहंकार, मान या अस्मिता को जब आघात लगता है, अथवा भौतिक उपलब्धियों की दौड़ में कोई आगे निकल जाता है, तब उससे ईर्ष्या-द्वेष हो जाता है। किसी की ख्याति प्रसिद्धि, उन्नति या महत्ता के कारण जब हमारे मिथ्या बड़प्पन की लकीर छोटी होती दीखती है, तो भी द्वेष का भाव जाग उठता है। जिसके प्रति हमारी आसक्ति, राग एवं ममत्व स्थापित होता है, जिससे सुख-

१. अद्रोह: परजिघांसाभाव: अहिंसनम्। – शांकर-भाष्यम्

२. अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:। – पातंजल-योग-दर्शनम्

३. क्रोधोऽमर्ष:। द्रोहोऽपकार:। ईर्ष्याऽक्षमा।

४. गीता एक नया अध्ययन, भगीरथ दीक्षित, दिल्ली, पृ. ११८-१९

५. भवन्ति भावा: भूतानां मत्त एव पृथक्विधा: (गीता १०/५)

६. तथा – मत्त: सर्वं प्रवर्तते। (१०/८) ७. वही, ३/३३-३४

प्राप्ति होती है उससे प्रेम और जिससे दु:ख मिलता है उससे द्वेष होता है।[८] यह जरूरी नहीं कि हमारा द्वेष-पात्र हमारे समक्ष या समकालीन हो। हमारे द्वेष की काली छाया देश-काल की सीमाओं से भी परे जा सकती है। द्वेष का अनल हमारी सभी मानवीय संवेदनाओं को जला डालता है। भीतर बैठा असुरत्व अपनी पाशविकता से इतना अन्धा और मतवाला हो जाता है कि वह द्वेष-पात्र को जीने का सामान्य अधिकार भी नहीं देना चाहता। द्वेष की प्रक्रिया इकहरी नहीं है, जिससे हम द्वेष करते हैं, बदले में वह भी हमसे द्वेष करने लगता है। इस दुहरी प्रक्रिया का वृत्त बृहत्तर होता जाता है। द्वेष्टा की गति दावानल में फँसी उस सशावक हरिणी के समान होती है, जो एक ओर तो अपने प्रिय शावक को जलता हुआ देखकर विकल होती है और दूसरी ओर स्वयं दाह की पीड़ा से व्यथित होकर दम तोड़ती है। मनुष्य अनादि काल से राग-द्वेष के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहा है। आसक्ति और अनासक्ति की कारा की यातनाएँ भुगत रहा है। द्वेष का दानव मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों को नहीं मानता। आत्मीय सम्बन्धों को नहीं पहचानता। उसके लिये मित्रता का भी कोई अर्थ नहीं। द्वेष के महाभारत में सारे मूल्यों और मर्यादाओं की आहुति चढ़ जाती है। द्वेष्टा और द्वेष्य दोनों को द्वेषाग्नि निगल लेती है। अद्रोह, अद्वेष और अवैर मानव-मन की वह अवस्था है, जिसमें अहंकार के ममत्व का अधिकाधिक विसर्जन होता है। सर्वात्मना सक्रिय समर्पण ही अद्रोह की जननी है। अहंकार ही तो द्रोह का प्रमुख कारण है। स्वार्थपूर्ति की कामनाओं का भी इसी से जन्म होता है, जो मनुष्य के अहं को उद्दीप्त कर द्वेषमय कर्म में प्रेरित करती हैं। अहंकार का उद्गम ममता है, जब व्यक्ति किसी को अपना मान लेता है और उससे आसक्ति तथा मोह करने लगता है, तब अहंकार की आसुरी प्रवृत्ति अपना रंग दिखाने लगती है। व्यक्ति दूसरों से द्रोह करने लगता है। शास्त्र भले ही चिल्ला-चिल्ला कर कहते रहें कि गुरु, माता और पिता के प्रति मन या कर्म से द्रोह करनेवाला पापी है। उसका यह पाप भ्रूणहत्या के समान है। इससे बढ़कर संसार में दूसरा कोई पाप नहीं है –

उपाध्यायं पितरं मातरं च,
येऽभिद्रुह्यन्ति मनसा कर्मणा वा।
तेषां पापं भ्रूणहत्या-विशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके।। (महा. शा. १०८/३०)

मित्र से द्रोह करने वाला नराधम, पापकर्मा, और कुलांगार है। ऐसे मित्रद्रोही, नृशंस और कृतघ्न जैसे नराधमों का मांस जीव-जन्तु तथा कीड़े-मकोड़े तक नहीं खाते –

मित्रद्रोही नृशंसश्च कृतघ्नश्च नराधमः। क्रव्ययादैः कृमिमिश्चैव भुजन्यन्ते हि न तादृशाः।। (वही, १७२/२६७)

कौन किसका मित्र और शत्रु है? मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र या शत्रु है। जिसने स्वयं को जीत लिया, अपने अहं तथा इच्छाओं को नियंत्रित कर लिया, वही अपना मित्र है। व्यक्ति का हित उसी के द्वारा सम्भव है। किसी बाह्य तत्त्व से न तो उसका हित सम्भव है और न अहित, अत: वह स्वयं को ही अपना शत्रु समझे और उसे जीतने की चेष्टा करे।

यदि मनुष्य को द्रोह ही करना है, तो जड़ता से करे। अज्ञान से लड़े। अज्ञान ही ऐसा शत्रु है, जिसका कोई शत्रु नहीं, जो उसका सामना करे। उससे आवृत होने पर मनुष्य घोर एवं दारुण कर्मों को करने में प्रवृत्त होता है –

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः
अजातशत्रुः पुरुषस्य राजन्।
येनावृत्तः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि।।

एक प्रश्न – एक जिज्ञासा

जब गीता अद्रोह, अहिंसा, अक्रोध और दया का उपदेश देती है, तब वह अर्जुन को युद्ध के लिये उद्यत क्यों करती है? वह उसे निष्क्रिय और उदासीन संन्यासी क्यों नहीं बन जाने देती? जब वह द्रोह और हिंसा के गम्भीर परिणामों पर विचार कर हाथ से गाण्डीव रख देता है, तब श्रीकृष्ण क्यों कहते हैं कि तुम नपुंसक मत बनो, उठो और युद्ध करो। यह युद्ध वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों की रक्षा के लिये, अत्याचार तथा अनाचार में रत आसुरी शक्तियों के प्रतिशोध के लिये, दिव्य मानवीय जीवन के आदर्शों के संरक्षण के लिये, समाज में पनपती भोगवादी प्रवृत्तियों के उन्मूलन के लिये और क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर व्यापक एवं लोकमंगल की रक्षा के लिये अति आवश्यक था। पर अर्जुन अपने सहज एवं नियत कर्म को भूल रहे थे। वे स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता मान रहे थे। उनमें आसक्ति, ममत्व एवं अहंकार के भाव जाग्रत हो गये थे। परिणामों की तुला पर कर्मो को तोल रहे थे। पक्षपात के कारण न्यायार्थ अपने बन्धुओं को दण्ड देने के कर्त्तव्य से कतरा रहे थे। वे प्रकृति-चक्र का निमित्त बनना नहीं चाहते थे। वे मोह से ग्रस्त, धर्मसंमूढ और किंकर्तव्यविमूढ थे। इसीलिये श्रीकृष्ण ने उसे कर्मयोग का उपदेश दिया। उन्होंने कहा – तीनों लोकों में मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है। मुझे कुछ भी प्राप्तव्य या अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्म करता हूँ। यदि न करूँ, तो संसार में अव्यवस्था हो जायेगी। सारे कर्म प्रकृति द्वारा निष्पादित होते हैं। मनुष्य प्रकृति का अंश है, अत: कर्ता नहीं है। अकर्म या क्रियाहीनता की स्थिति असम्भव है। मनुष्य कर्म करने को विवश है। वासना एवं आसक्ति के त्याग से किया गया कर्म अशुभ, निन्दनीय होने पर भी प्रभावहीन और अपरिणामी होता है। प्रभु को समर्पित एवं लोक-संग्रह के हेतु किया गया कर्म व्यक्ति की भौतिक-

८. 'सुखानुशयी रागः', 'दु:खानुशयी द्वेषः' – पातंजल योगदर्शनम्।

सीमा में आबद्ध कब है? वह अशुभ कहाँ है? समाज की मर्यादा के संरक्षण हेतु की गई हिंसा पापमूलक हिंसा नहीं है। शल्य-चिकित्सक द्वारा किया गया आपरेशन और न्यायाधीश द्वारा प्रदत्त प्राणदण्ड हिंसापरक नहीं है। श्रीराम द्वारा रावण-वध तथा श्रीकृष्ण के कंस-वध का उद्देश्य धर्म-संस्थापन है, व्यक्तिगत द्वेष से परे है, अत: वे कर्म हिंसात्मक होते हुये भी अपूर्व सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं, निष्पाप हैं, अत: समादरणीय हैं। इससे पलायन निश्चय ही क्लीबत्व है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से हर मनुष्य को दायित्वों के प्रति जागरूक रहने के लिये सचेत किया। उन्होंने द्रोहपरक अर्थात् आसक्तिमय हिंसा का विरोध कर अनासक्तिमय स्वाभाविक कर्म की प्रेरणा दी। बिना आशा, बिना ममत्व तथा बिना उद्विग्न हुए युद्ध करने का – जीवन-संघर्ष करने का आदेश दिया –

निराशीः निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगत ज्वरः।

युद्ध की प्रेरणा देने पर भी गीता का मूल स्वर अहिंसा और अद्रोह है। द्वेष का कठोर विरोध है, क्योंकि अन्तिम सत्य यही है। पर प्रश्न है द्वेष का विकार मन से हटे कैसे? द्वेष की मदिरा से मतवाले मनरूपी हाथी को नियंत्रित करने का उपाय क्या है? गीता कहती है – समता के अंकुश से उस पर नियंत्रण हो सकता है। असमता के व्यवहार से, आसक्ति की धरा पर द्वेष का अंकुर फूटता है। इसलिये प्रथम आसक्ति-असमता की भूमि को ही अनुर्वरा बनाने का उपाय किया जाय, ताकि द्वेष का बीज अंकुरित ही न हो। जिनका मन साम्य में स्थित है, वे किसी से द्वेष नहीं करते। अपने जीवनकाल में ही संसार को जीत लेते हैं। परमात्मा निर्दोष, रागद्वेष-हीन एवं सम है। वह सबका मित्र और निरपेक्ष रूप से सबका हितकारी है। जो परमात्म-भाव को प्राप्त हो गया, वह 'समभाव' में स्थित है। यह ब्राह्मी स्थिति है, जिसे पाकर कोई मोह में नहीं पड़ता (५/१९)। समत्व योग है। आसक्ति को त्याग कर सिद्धि और असिद्धि, सफलता और असफलता को समान भाव से देखना ही समता है (२/४८)। साम्ययोगी सर्वत्र परमात्मा की अनुभूति करता है। वह अपरोक्षदर्शी और समदर्शी होता है। वह पण्डित तथा ज्ञानी है। वह विद्या और विनय से सम्पन्न सत्त्व के प्रतीक ब्राह्मण, रजोरूप गाय, तमो रूप हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समान रूप से देखता है। किसी से उसका द्वेष नहीं होता ५/१८)। पण्डित का समदर्शित्व त्रिगुणातीत है, क्योंकि त्रिगुण बन्धनकारक होते हैं, इसलिये त्रिगुणात्मक समदर्शित्व घातक है। अर्जुन का समदर्शित्व तामसिक है। वे दुर्योधन आदि अन्यायियों को भी पाण्डवों के समान ही वीर, सम्माननीय और आत्मीय मानते हैं। श्रीकृष्ण उसके इसी दृष्टिभ्रम को दूर करते है। त्रिगुणातीत सत्त्व, रज, और तम के विकारों से परे होता है। वह इन गुणों के प्रति न तो द्वेष करता है, न राग। वह आकर्षण-अनाकर्षण प्रवृत्ति एवं निवृत्ति से अस्पृष्ट होता है (१४/२२)। जो स्थितप्रज्ञ, स्थित-धी, स्थिरबुद्धि और समबुद्धि है, उसे किसी से राग, भय, क्रोध नहीं होता। वह दु:खों से अनुद्विग्न और सुखों की स्पृहा नहीं करता। वह अनासक्त, अनभिस्नेह एवं समचित्त रहता है। वह राग-द्वेष से मुक्त, आत्मवश्य होकर इन्द्रियों से विषयों का भोग करते हुए भी प्रसन्नता प्राप्त करता है। सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापियों में उसका चित्त अविकृत एवं सम रहता है। संन्यासी भी किसी से द्वेष नहीं करता। वह निराकांक्ष और द्वन्द्वातीत होता है। काम्य कर्मों का त्याग करनेवाला ही संन्यासी है। वह कर्मफल पर आश्रित न रहकर कर्त्तव्य-कर्म करता है। संन्यासी कर्मयोगी होता है और कर्मयोगी संन्यासी। कर्मयोगी न तो अकुशल अशुभ कर्मों से द्वेष करता है और न कुशल-शुभ कर्मों में आसक्त-आकृष्ट होता है। जहाँ आसक्ति है, वहाँ ममता की रस्सी में मोह का फन्दा पड़ा है। जिसे मनुष्य अनादि काल से गले में डालकर द्वेष की खाई में कूदने को तैयार खड़ा है। गीता का आदेश है कि जीवन यात्रा बिना आसक्ति के पूरा करो। इसमें तुम न किसी से अनुराग करो और न द्वेष। शुभ फलों को पाकर न तो तुम हर्षातिरेक से उनका अभिनन्दन करो और न कभी इतराकर चलो। यों तो संन्यासी और कर्मयोगी दोनों ही कर्मफल के प्रति अनासक्त होते हैं, पर संन्यासी केवल सात्त्विक कर्म करता है और उनके फलों के प्रति राग-द्वेष हीन होता है। वह राजसी तथा तामसी कर्म नहीं करता, अत: उनके फलों से भी राग-द्वेषहीनता का प्रश्न नहीं है। कर्मयोगी त्रिगुणात्मक कर्म करता है, पर आसक्ति और राग के बिना। अत: उसकी राग-द्वेष-हीनता संन्यासी की राग-द्वेष-हीनता से भिन्न है।

भक्त सर्वभूतों का अद्वेष्टा और मित्र होता है। वह सब पर करुणा करता है। उसमें ममता, आसक्ति नहीं होती, वह अहं -शून्य, सुख-दु:ख में सम तथा क्षमावान होता है (१२/१३)। वह न हर्षित होता है और न द्वेष करता है। वह शोक और प्राप्ति की आकांक्षा भी नहीं करता (१२/१७)। वह शत्रु-मित्र के प्रति सम रहता है (१२/१८)। भक्त जब सारे जग को सिया-राममय देखता है, तब वह किसके प्रति द्वेष करेगा। उसके लिये तो सब प्रभुमय ही है –

निज प्रभु मय देखहि जगत्
केहिसन करहि विरोध।। (मानस, ७/११२ ख)

जो अनन्य भाव से भगवद्-भक्ति करता है, वह त्रिगुणातीत ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करता है। शान्ति की इस अवस्था में – (अ) कामनाओं का त्याग हो जाता है। (ब) कोई स्पृहा – कुछ पाने की इच्छा नहीं होती। (स) आसक्ति एवं ममत्व का सर्वथा अभाव होता है। (द) अहंकार का पूर्ण विसर्जन तथा सर्वात्मना सक्रिय चेतना का समर्पण हो जाता है (२/७१)।

भक्त और भगवान के बीच पराभौतिक रागात्मक सम्बन्ध होते हैं। प्रेमी और प्रिय के रिश्ते जुड़ते हैं। प्रेमी भक्त अपने प्रिय भगवान के आदर्श चरित्रों को अपने भीतर ढालने की चेष्टा करता है। उनकी अनुकूलता पाने के लिये प्रतिकूलताओं का त्याग करता है। भगवान के स्वभाव को गीता बताती है – परमात्मा सभी भूतों में सम है, उसका न कोई द्वेष्य है और न प्रिय (९/२९)। परमात्मा की स्पष्ट घोषणा है कि उसे वही प्राप्त करता है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति निर्वैरता रखता है (११/५५)। जिसकी अभेददृष्टि है, जो पूरे चराचर विश्व के कण-कण में ईश्वर को देखता है, वही सही रूप से देखता है और परम गति प्राप्त करता है (१३/२७-२८)।

जो सर्वभूतों में निज को और निज में सर्वभूतों को देखता है, जिसकी दृष्टि अभेदमयी है, वही ब्रह्म को प्राप्त करता है –

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यदा पश्यति भूतात्मा, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।
(महाभारत, शान्ति. २४३/२१)

भागवत के अनुसार सन्त अकृतद्रोह होता है। वह किसी से द्रोह नहीं करता। द्रोहकर्ता के प्रति भी उसका मन करुणा और क्षमा से परिपूर्ण रहता है। उसका व्यवहार चन्दन-वृक्ष के जैसा होता है, जो काटनेवाले फरसे को भी सुवासित कर देता है – **सन्त असन्तन कै अस करनी, जिमी कुठार चन्दन आचरनी**। विष्णु पुराण (यमगीता, २४) में कहा है कि जिस का अन्त:करण मैत्रीभाव से द्रवित है, मुक्ति उसके करतलगत है – **मैत्री द्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता**। जिसकी बुद्धि विमल है, जिसमें ईर्ष्या का अभाव है, जो प्रशान्त, पवित्र आचरण वाला, सभी प्राणियों का मित्र, प्रिय व हितकर वाणी बोलनेवाला है, जिसने मान तथा कपट को त्याग दिया है, उसके हृदय में भगवान वासुदेव सदा निवास करते हैं।

जिसने मन, वाणी तथा कर्म से द्रोह का परित्याग कर दिया है, वही शीलवान है और समस्त जीवों के प्रति मैत्री एवं करुणापूर्ण व्यवहार ही शील है –

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ।।
(महाभारत, शान्ति., १२४/६६)

यही शील सनातन धर्म है। बुद्धिमान जन इसे ही धर्म का मूल सदाचार निरूपित करते हैं –

विद्वेष राग रहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने।
विद्वांसस्तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्बुधाः।
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, ३५/२५)

अर्थात् विद्वेष और आसक्ति रहित आचरण को विद्वान् धर्ममूल सदाचार कहते हैं। नश्वर जीवन को प्राप्त कर उसकी सार्थकता इसी में है कि व्यक्ति किसी की हिंसा न करे, सबके साथ मित्रता का आचरण करें (महा., शा., २७८/५) –

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।।

जीवन की इसी वास्तविकता को देखकर तत्त्वदर्शी ऋषि ने कहा था – मुझे सभी मित्र की आँख से देखें और मैं भी सभी को मित्र की ही आँख से देखूँ –

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।।

महावीर स्वामी ने कहा था कि मुझे सभी प्राणियों की मैत्री चाहिये, मेरा किसी के साथ वैर न हो।'' क्या मैल मैल से धोया जा सकता है? कदापि नहीं। क्रोध को अक्रोध से, हिंसा को अहिंसा से, वैर को प्रेम से ही जीता जा सकता है – **नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्ति हि कदाचन**। बाइबिल में लिखा है – ''वैर से तो झगड़े पैदा होते हैं, पर प्रेम से सब अपराध ढँक जाते हैं।... तुम अपने वैरियों से प्रेम करो और अपने सतानेवाले के लिये प्रार्थना करो। जिससे तुम अपने स्वर्गीय पिता की सन्तान ठहरोगे, क्योंकि वह भलों और बुरों दोनों पर अपना सूर्य उगाता है और धर्मियों और अधर्मियों पर मेघ बरसाता है।'' (मत्ती, ५.४४) द्वेष का रूपान्तर आवश्यक है। गीता द्वेष के त्याग की बात नहीं कहती, क्योंकि जब वह इसे शरीर का अनिवार्य धर्म मानती है और भाव के अभाव का समर्थन नहीं करती, तब इसके त्याग के अव्यावहारिक पक्ष पर बल क्यों होगा? वह तो इसके रूपान्तरण का मार्ग-दर्शन देती है। द्वेष का रूपान्तर प्रेम है। यदि प्रेम के वृत्त को लघु से लघुतर न कर बृहत्तर किया जाय, तो सारा विश्व उसमें समा जायेगा। प्रेम परम रसायन और रसराज है। इसी से स्वर्ग धरा पर उतरता है, अन्यथा द्वेष से तो स्वर्ग भी नरक बन जाता है। प्रेम से अनेकत्व में एकत्व की अनुभूति होती है और जब एकत्व के अमृतरस से हृदय-घट छलछलाने लगता है, तब बहुत्व की विघटनकारी दु:खद मानसिकता के पनपने का अवसर ही नहीं मिलता। सारे विशेषण विलुप्त हो जाते हैं, कृत्रिम उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं। मनुष्यता मात्र का ही नाता शेष रहता है, फिर वहाँ जाति, वर्ण, लिंग तथा सम्प्रदाय आदि आधारों पर विद्वेष नहीं रहता, वहाँ तो फिर न शोक होता न मोह – **तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः**। हमारे हृदय से करुणा और मैत्री का महानद फूट पड़ता है, जिसमें द्वेष का तटवर्ती वृक्ष बह जाता है। जीवन की कृतकामता इसी में है कि वह अपनी करुणा और मैत्री का कोष विराट् विश्व के चरणों में अर्पित कर दे –

भिक्षुक-सा यह विश्व खड़ा है पाने करुणा प्यार,
हंस उठ रे नादान, खोल दे पंखुरियों के द्वार;
रीते कर ले कोष, नहीं कल सोना होगा धूल।
अरे तू जीवन-पाटल फूल। (महादेवी वर्मा)

❖ (क्रमशः) ❖
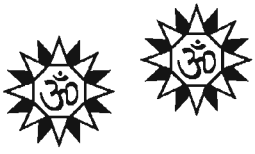
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (३)
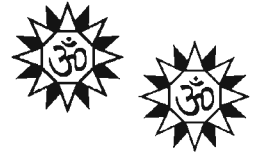
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।।१६।।

– जिस तीव्र वैराग्य के द्वारा सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों के प्रति अरुचि हो जाती है, निस्पृहता होती है, उसी से जीव का स्वरूप प्रकाशित होता है।

व्याख्या – इस प्रकार बहुत दिनों तक मन को संयमित रखने से मन में अद्‌भुत शान्ति का अनुभव होता है और चित्त प्रसन्न हो जाता है। तब निश्चित रूप से बोध होता है कि जो कुछ भी सुख-शान्ति है, वह सब हमारे भीतर ही है। हमारे स्वरूप के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की हमें आवश्यकता नहीं है। इस अवस्था को 'परवैराग्य' कहते हैं एवं इस अवस्था के प्राप्त होने पर सृष्टि में कहीं भी बिन्दु मात्र भी मन का आकर्षण नहीं रहता है।

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः ।।१७ ।।

जिस समाधि में विर्तक, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगामी होते हैं, अर्थात् साथ-साथ रहते हैं, उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

विराम-प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।।१८ ।।

दूसरी समाधि में चित्तवृत्ति सम्पूर्ण निरुद्ध हो जाती है, किन्तु चित्त के गूढ़ संस्कार अवशेष रहते हैं, इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

व्याख्या – आध्यात्मिक उन्नति की प्रथम साधना मन को एकाग्र करना है। इसीलिये हिन्दुओं के धर्म के आरम्भ में ही गायत्री-उपासना थी। उससे बालकों को एक ज्योति के ऊपर मन को स्थिर करने की शिक्षा दी जाती थी। जो लोग ध्यान-योग की साधना करना चाहते हैं, उन लोगों के लिये पहली साधना है मन को निष्क्रिय करना, स्थिर करना और इस अवस्था में तटस्थ रहकर 'मैं हूँ' इसका बोध करना। इसमें सफल होने के बाद कुछ साधना की बातें कही गयी हैं। सर्वप्रथम किसी स्थूल वस्तु के विषय में चिन्तन करना चाहिये। उसमें जब मन सम्पूर्णतः स्थिर हो जायेगा, तब समझना होगा कि मन की एकाग्रता-शक्ति का विकास हुआ है। इस प्रकार मन जब पूर्णतः स्थिर हो जाता है, तब एक प्रकार की अवस्था होती है, जिसे समाधि कहते हैं। इस अवस्था में कभी प्रशान्त बुद्धि से निज स्वरूप का थोड़ा-सा आभास मिलता है, उसे सानन्द समाधि कहते हैं। एक दूसरे प्रकार की अवस्था में इस 'मैं' में ही निश्चला-बुद्धि होती है, उसे सास्मिता समाधि कहते हैं। इन सब समाधियों से जब मन व्युत्थित होता है, तब देखा जाता है कि हमारे पूर्व संस्कार पहले जैसे ही हैं, लेकिन संसारी लोग संस्कार के अधीन होकर निरन्तर चंचलता से व्यग्रचित्त होकर भटकते रहते हैं, किन्तु योगी लोग उसे सम्पूर्ण रूप से वशीभूत, संयत करके रखते हैं।

भव-प्रत्ययो विदेह-प्रकृतलयानाम् ।।१९ ।।

– यह समाधि (परवैराग्य के साथ अनुष्ठित नहीं होने पर) देवता और प्रकृतिलीन पुरुषों के उत्पत्ति का कारण है।

व्याख्या – ध्यान के अभ्यास हेतु योग्यता-प्राप्ति के लिये जिन साधनाओं को करना पड़ता है, उनको नहीं करके जो लोग केवल मन के बल पर या मानसिक सबलता से हठकर के निष्क्रिय रहने का अभ्यास करते हैं, उनलोगों की मुक्ति नहीं होती। सम्भवतः बौद्ध धर्म के निर्वाणवाद के प्रचार के कारण बहुत से लोग भ्रान्त-मत के आलम्बन द्वारा विभिन्न प्रकार की साधनायें करने लगे। वे लोग सगुण या निर्गुण ब्रह्म के विषय में नहीं जानते थे, यहाँ तक कि ब्रह्म नामक कोई वस्तु (सत्ता) है, उसे भी स्वीकार नहीं करते थे। उनमें से बहुत से नास्तिक शून्यवादी थे। उनलोगों की यह धारणा थी कि जीवात्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है, इसलिये वे लोग मेढ़क या साँप की तरह कुम्भक करके सुषुप्ति-सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते थे। हमलोग सुषुप्ति-अवस्था में ठीक मृतक जैसे ही हो जाते हैं। जगने पर निद्रा के पहले जैसे थे, ठीक वैसे ही स्वयं को अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त निरीश्वरवादी और शून्यवादी लोग समाधि अवस्था में रहते हुये मरने पर, ठीक सुषुप्ति-अवस्था में कल्पान्त-पर्यन्त प्रकृतिलीन रहते हैं। कल्प के अन्त में जब नयी सृष्टि होती है, तब पहले जैसे वे लोग थे, ठीक उसी संस्कार को लेकर पुनः जन्म लेते हैं।

कर्मयोग के अभ्यास से चित्तशुद्ध न करके एवं उपासना द्वारा मन को एकाग्र न कर, जो लोग योग में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग अनेकों प्रकार की सिद्धि प्राप्त होने पर उससे मोहित हो जाते हैं, जिसके कारण उनका पतन हो जाता है। शून्य-चिन्तन में, निष्क्रिय समाधि अवस्था में देह-त्याग करने पर,

उन लोगों के चित्त में अविद्या का आवरण रहता है। इसीलिये वे लोग कल्पान्त में पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं।

जो लोग ध्यानयोग में प्रकृति अर्थात् अविद्या में मन को लीन कर सकते हैं, वे लोग यदि ध्यान भंग होने के बाद देह-त्याग करें, तो उनके मन में उस समय मूल अविद्या के भाव के अतिरिक्त अन्य भाव भी रह सकते हैं। यदि ऐसा हो तो, मृत्यु के समय के चिन्तन के अनुसार ही तो दूसरा जन्म होगा। यदि विदेह-अवस्था में भी प्रकृतिलीन-अवस्था में रहें, तो कल्पान्त पर्यन्त उसी अवस्था में रहना होगा।

वेदान्तशास्त्र में विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति – इन दोनों अवस्थाओं की बातें प्रसिद्ध हैं। विदेहमुक्ति अर्थात् जीवन के अन्त में मुक्ति। इसलिये हम विदेहलय को, देहहीन अवस्था में प्रकृतिलीन होना, ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। और मृत्यु के पूर्व मन की जो अवस्था रहती है, पूनर्जन्म में उसी अवस्था की प्राप्ति होती है, यह सर्वजन विदित सत्य है।

भाष्यकारों ने 'विदेह' का तात्पर्य 'देवता' समझा है। स्वामी विवेकानन्द ने भी इसका यही अर्थ किया है।

श्रद्धा-वीर्यस्मृति-समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।। २० ।।

– श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि या एकाग्रता और प्रज्ञा से किसी-किसी को समाधि की प्राप्ति होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।।२१ ।।

जो लोग अत्यन्त उत्साह से साधना करते हैं वे शीघ्र ही सिद्ध होते हैं। (समाधि प्राप्त करते हैं)

मृदुमध्यादिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।।२२ ।।

मृदु, मध्य या अधिक प्रयत्नानुसार योगियों की सिद्धि में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

व्याख्या – जो लोग योगाभ्यास के योग्य बनने के लिये, जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उसके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उनलोगों की शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्वभावत: सम्पूर्ण श्रद्धा रहती है। प्राण और मन के पूर्ण विकास से ही वीर्य और स्मृति या धृति का विकास सम्भव है। वे लोग मन को एकाग्र करने की शक्ति को पहले ही अर्जित कर लेते हैं। उससे उन लोगों की अर्थात् प्रज्ञा विकसित होती है। इन सब सामर्थ्यशाली, साधकों के प्रारब्ध कर्म के प्रतिकूल और अनुकूल अवस्थानुसार, किसी के मन में सिद्धि-प्राप्ति की तीव्र इच्छा जगती है और किसी में वह विकसित होने में विलम्ब होता है।

जिन लोगों की ईश्वर के बारे में कोई धारणा नहीं है, अत: वे किसी तरह की उपासना के अभ्यस्त नहीं हैं, वे ध्यान-योग की सहायता से भी इस जगत के रहस्य को जान सकते हैं। जो लोग ईश्वर की धारणा से अभिज्ञ हैं, अब उन लोगों के लिये साधना की प्रणाली का उपदेश किया जा रहा है –

ईश्वर उपासकों के तीन प्रकार हैं – प्रथम – शिव, विष्णु, काली, दुर्गा आदि कल्पित ईश्वरीय प्रतीकों की सहायता से ईश्वर-चिन्तन करने वाले साधक। दूसरा – मुसलमान आदि अवैदिक निराकार ईश्वर-चिन्तन वाले। तीसरा – अवतार का चिन्तन करने वाले। जो व्यक्ति ईश्वर के तत्त्व को जितना ही सुन्दर ढंग से जानने का सुयोग प्राप्त करता है, उसकी उपासना ही सर्वश्रेष्ठ है, अर्थात् वह सहज ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ईश्वर के सम्बन्ध में उपासकों को कुछ बातें जानना अत्यन्त आवश्यक है – (१) ईश्वर का इस संसार के सुख-दुख, अच्छे-बुरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। (**न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः**, गीता, ९/२९) (२) ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हैं। (३) जितना मनुष्य का ज्ञान है, सब कुछ उन्होंने प्रदान किया है। अध्यात्मज्ञान के अभाव में जब मनुष्य हीन-अवस्था को प्राप्त होता है, तब वे ईश्वर अवतार के रूप में मनुष्य को धर्म की शिक्षा देते हैं। (४) मनुष्य के सम्मुख भगवान के वाचक रूप में पहला शब्द 'ओंकार' ही अभिव्यक्त हुआ था। उसी ओंकार शब्द में मन को एकाग्र करने से मन संसार के परे चले जाता है और जगत्-कारण ईश्वर का अनुभव होता है। परवर्ती ऋषियों ने ईश्वर के विभिन्न भावों के प्रतीक के रूप में कुछ बीज-अक्षरों का आविष्कार किया है। जैसे – ह्रीं (शक्तिबीज), रं (अग्निबीज), क्लीं (भगवान का प्रेम-प्रकाशक बीज) और ऐं (गुरु बीज)। (५) जब हम किसी प्रिय व्यक्ति को उसका नाम लेकर पुकारते हैं, तब मन-ही-मन उसकी सत्ता (अस्तित्व) की धारणा भी रहती है। ठीक उसी प्रकार के गुरु के द्वारा प्रदत्त भगवान का नाम और बीज का जप-करते-करते यह धारणा भी मन में रहती है कि – यह इष्ट-देवता का नाम है और इसी नाम से पुकारने पर वे आयेंगे। इसलिये गुरु के द्वारा प्रदत्त मन्त्र का जप करने से इष्ट-दर्शन होता है। (६) जब ईश्वर का दर्शन होता है, तब हम लोग देह-मन के बन्धन से परे चले जाते हैं, अर्थात् मुक्त हो जाते हैं। वह मुक्ति (पूर्ण मुक्ति) नहीं होने पर भी साधनावस्था में साधक को जो बाधायें पहले आती थीं, वे पूर्ण रूप से बन्द हो जाती हैं।

ईश्वर के किसी एक रूप का चिन्तन करते-करते मन के तद्भावभावित, उसी भाव में अनुरंजित होने पर यह बोध होता है कि – **इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।**'' (गीता-३/४२) – इन्द्रिय, मन और बुद्धि से जो श्रेष्ठ है, मैं उसी ईश्वर का साक्षात्कार रहा हूँ, दर्शन कर रहा हूँ। यह अस्मिता का ही एक प्रकार है, जिस अस्मिता के पीछे रहकर हम लोग जीवन के सभी कर्मों एवं विचार का बोध करते हैं। एक साधक भजन गा रहे हैं – ''हे श्यामा, मैं मन को तेरे साँचे में डालकर, मनोमयी, मनोनुकूल मूर्ति ले लूँगा। ❖ (क्रमशः) ❖

ईश्वरप्राप्ति का मार्ग

स्वामी रामकृष्णानन्द

(प्रस्तुत लेख चेन्नई के रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित एक लघु पुस्तिका Path to Perfection का हिन्दी रूपान्तरण है । श्रीरामकृष्ण के साक्षात् शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द जी द्वारा लिखित इस लेख का अनुवाद रायपुर आश्रम के ही ब्रह्मचारी जगदीश ने किया है । – सं.)

हमारी प्रत्येक छोटी-सी-छोटी चेष्टा भी किसी-न-किसी इच्छा की पूर्ति के लिये होती है और इस सचेतन चेष्टा का नाम ही 'जीवन' है। जहाँ पर चेष्टा है, वहाँ उसे जीवन कहा जाता है, पर जब चेष्टा अचेतन हो, जैसा कि किसी बड़े इंजन या मशीन में, तब हम उसे जीवन नहीं कहते। जब कभी चेष्टा सचेतन होती है, केवल तभी वह जीवन है। फिर हर चेष्टा किसी-न-किसी कामना से, इच्छा से स्फुटित होती है। किसने मुझे सचेष्ट किया? – कुछ प्राप्त करने की इच्छा ने। तुम यहाँ पर क्यों आये? इसलिये कि तुमने विचार किया कि तुम्हें कुछ ज्ञान अथवा सहायता प्राप्त करनी है। **कुछ प्राप्त करने अथवा अनुभव करने की आशा के बिना हम कभी एक कदम आगे नहीं बढ़ाते है।** सभी चेष्टाओं के पीछे अशान्ति विद्यमान रहती है तथा अशान्ति अभाव-बोध से आती है। जब तक यह तुममें अशान्ति है, तुम्हें चेष्टा करनी होगी, अपने अभाव की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील रहना होगा।

परन्तु क्या सचमुच ही मानव में किसी प्रकार का कोई अभाव है? भगवान श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा ईसा जैसे महान् अवतारों ने दूसरे ढंग से शिक्षा दी है। उनकी मानव-विषयक परिभाषा अद्भुत है। वे कहते हैं कि मनुष्य जन्म-रहित, मृत्यु-रहित, कामना-शून्य, आनन्दपूर्ण, स्वयम्भू तथा स्वप्रकाश है। शिव के त्रिशूल में भी उसे नष्ट करने की शक्ति नहीं है। वह स्वरूपत: शाश्वत एवं अविनाशी है। किन्तु यदि यह मानव की परिभाषा है, तो मैं कौन हूँ? मैं भी मनुष्य हूँ, पर मैं मात्र साढ़े तीन हाथ का हूँ, मैं जन्म लेता हूँ, मरता हूँ, और मेरी अनेक इच्छाएँ हैं। निर्धनतम श्रमिक से लेकर सर्वोच्च सम्राट् तक क्या तुम मुझे कोई ऐसा मनुष्य दिखा सकते हो, जिसकी कोई इच्छा न हो? वस्तुत: मनुष्य इच्छाओं का गुलाम है। बच्चा जन्म लेते ही रोता है। क्यों? क्योंकि उसकी कुछ इच्छा है। मनुष्य कामना लेकर ही जन्म लेता है, कामना में ही जीवित रहता है और इच्छा लेकर ही मृत्यु को प्राप्त करता है। इच्छा से ही वह अस्तित्व में आया है, इच्छा में ही वह जीता है और इच्छा के कारण ही वह मरता है।

तब मनुष्य के इन दोनों रूपों के बीच क्या सम्बन्ध है? वे दोनों कैसे एक-दूसरे के बराबर हो सकते हैं? कैसे उनमें ऐक्य स्थापित किया जा सकता है? उनमें से एक मनुष्य अभाव, भय, जन्म-मृत्यु के परे है; जबकि दूसरा सब तरह के भय तथा कामनाओं से भरा हुआ है, जिसने जन्म लिया है तथा जिसे अनिवार्यत: मरना होगा। ऊपरी तौर से देखें, तो विपरीत ध्रुवों पर स्थित इन दोनों मनुष्यों के बीच भला क्या सम्बन्ध हो सकता है? पर एक सम्बन्ध अवश्य है। यह मनुष्य जो जन्मता और मरता है, जो क्षुद्र तथा ससीम है, यही मनुष्य अपने अनन्त स्वरूप की ओर इंगित करता है। मनुष्य क्यों सदा बेचैन बना रहता है? क्यों सर्वदा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता रहता है? इसलिये कि वह कभी सन्तुष्ट नहीं हो पाता, इसलिये कि कुछ भी उसे चिर सन्तुष्टि नहीं दे पाता और यही तथ्य – अपने क्षुद्र के प्रति असन्तोष ही इस बात को प्रकट करता है कि यह उसकी स्वभावगत अवस्था नहीं है। यह सत्य है कि उसकी असंख्य आकाक्षायें है, उसमें अधिक-से-अधिक प्राप्त करने की, कभी शान्त न होनेवाली भूख है; यह सिद्ध करता है कि वह स्वभाव से असीम है तथा इसी कारण वह किसी भी तुच्छ ससीम उपलब्धि से सदैव असन्तुष्ट रहता है।

दुनिया के किसी भी व्यक्ति के पास जाओ, वह अपनी क्षुद्र अवस्था से असन्तुष्ट ही मिलेगा। वस्तुत: तुम में से कोई भी सन्तुष्ट नहीं है। तुम कहोगे कि तुम सौ रुपये मासिक आय से सन्तुष्ट हो, पर यह आलस्य है। आलस्य और सन्तोष को कभी एक मत मानो, ये दोनों आलग हैं। यथार्थ सन्तोष क्या है, यह हमें नचिकेता से ज्ञात होता है। यमराज ने उसे धन, राज्य तथा सुन्दर युवतियाँ देनी चाही, पर नचिकेता जानता था कि केवल ज्ञान ही उसे सन्तुष्ट कर सकेगा और उसे किसी अन्य चीज की जरूरत नहीं है। मगर यदि कोई तुम्हें सौ रुपयों के स्थान पर दो सौ रुपये देना चाहे, तो क्या तुम छोड़ दोगे? इससे पता चलता है कि वस्तुत: तुम अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हो। यदि तुम आत्म-निरीक्षण करो, तो देखोगे कि तुममें अनन्त कामनाएँ हैं। इन कामनाओं का अन्त कब होगा? केवल तभी, जब तुम कह सकोगे – "मैं सबका स्वामी हूँ। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा है। मेरी कोई कामना नहीं। मैंने मृत्यु को पार कर लिया है। मैं किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हूँ।" जब तक तुम्हें यह अनुभूति न होगी, तुम्हारी कामनाएँ तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेंगी। तुम अपनी ससीमता को छोड़ना चाहते हो और जब तक तुम यह न कह सकोगे कि तुम अजर, अमर तथा अनन्त हो, तब तक तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती।

इसे ही मुक्ति अथवा मोक्ष कहते हैं। तो भले ही यह क्षुद्र मनुष्य उस विराट् मनुष्य से – उस अनन्त-स्वरूप मनुष्य की तुलना में कितना ही विपरीत गुणधर्मी दिखाई देता हो, किन्तु यह क्षुद्र मनुष्य तब तक शान्त नहीं बैठेगा, जब तक कि वह उस अनन्त स्वरूप मनुष्य से अभिन्न न हो जाय। इससे स्पष्ट

हो जाता है कि वह अनन्त-स्वरूपता ही उसका वास्तविक स्वभाव है। यदि तुम एक मछली को शाहजहाँ के मयूर सिंहासन पर बैठाकर, उसे प्रणाम करके उसकी पूजा करो, तो क्या वह खुश होगी? – नहीं, बल्कि वह कहेगी – "तुम भले ही मुझे जलकुण्ड में फेंक दो, परन्तु जल से दूर न करो;" क्योंकि जल ही उसका जीवन है। उसी तरह तुम सब अपनी खोई अवस्था को पुन: प्राप्त करने के लिये बेचैन हो।

ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो अशान्त न हो और यह अशान्ति किस बात के लिये है? – अपने खोये हुये स्वरूप, अपने अनन्त स्वरूप को पुन: प्राप्त करने के लिये। वह व्यक्ति धन्य है जो अशान्त है; और वह व्यक्ति बड़ा दयनीय है, जो अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट है। सन्तुष्ट मनुष्य, मनुष्य ही नहीं है; वह किसी पशु से भिन्न नहीं है। तुम एक हाथी को सारे जीवन बाँधकर रख सकते हो और यदि तुम उसे खाने के लिये देते रहो, तो वह इस बन्धन को बिल्कुल भी बुरा नहीं मानेगा। इस प्रकार के सन्तुष्ट मनुष्य पशुओं से जरा भी बेहतर नहीं है; "खाना, सोना, भयभीत होना और बाल-बच्चों को लेकर रहना – ये वृत्तियाँ हममें निम्न पशुओं जैसी ही हैं।" यदि हम इन वृत्तियों के अतिरिक्त कुछ उच्च तथा श्रेष्ठ आकांक्षा न रखें, तो उसकी तुलना में हमारा भला वैशिष्ट्य ही क्या रह जायेगा?

जहाँ कहीं भी असन्तोष है, निश्चित रूप से जानो कि वहाँ महानता के बीज हैं। किसी भी महान् व्यक्ति का जीवन-चरित्र पढ़ने पर तुम देख सकोगे कि वे कैसे सदैव और अधिक प्राप्त करने के लिये सतत क्रियाशील तथा अशान्त बने रहे। दूसरी ओर वे शान्त व्यक्ति, जिनमें कोई उच्च आकांक्षा न थी, नियति द्वारा कुली बनाये गये। वे उन बैलों की तरह हैं, जो सारे दिन घानी के चारों ओर चक्कर काटने में लगे रहते हैं। जब ये लोग विद्यालय में थे, तब इन्होंने सीखने की चेष्टा नहीं की, वे कक्षा में निचले स्तर पर रहकर ही सन्तुष्ट रहे, पर उनके साथ कुछ ऐसे भी छात्र थे, जो सक्रिय थे, जो सीखने की इच्छा रखते थे और वे ही आज उच्च अधिकारी तथा समाज के गणमान्य व्यक्ति हैं। महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करने पर तुम देखोगे वे इसलिये महान् बने, क्योंकि वे निरन्तर सक्रिय थे, सचेष्ट थे। अत: तुम कभी निष्क्रिय न बनो।

थोड़े में ही कभी सन्तुष्ट न होओ। तुम अनन्त हो, सर्वांग - पूर्ण हो और जब तक अपने अनन्त स्वरूप की अनुभूति न कर लो, तब तक तुम्हें नहीं रुकना है। यह न सोचो कि तुम सीमित बुद्धि के हो। तुम्हारे पास सुकरात जैसा मस्तिष्क और न्यूटन जैसी बुद्धि है। तुमने उन पर काफी मात्रा में धूल तथा कचरा जमा होने दिया है। धूल-कचरे को साफ करो, अपनी कामनाओं को जगाओ, कमर कसकर कार्य में जुट जाओ और जान लो कि सारी शक्ति तुम्हारे भीतर छिपी पड़ी है। तुम क्षुद्र-ससीम नहीं हो। तुम भी प्राचीन काल के महानतम् ऋषियों की भाँति ही अनन्त स्वरूप हो। ईश्वर और तुम्हारे बीच देश और काल कभी बाधा न बन सकेगा।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि किसी मनुष्य को पापी कहना ही सबसे बड़ा पाप है। जिस क्षण तुम स्वयं को पापी और दुर्बल सोचते हो, तुम अपने अनन्त स्वरूप को भूलाकर देह तथा मन के साथ अपना तादात्म्य कर बैठते हो। यह देह एवं मन के साथ हमारा तादात्म्य ही हमारी सारी समस्याओं का मूल है। यदि तुम अपने अनन्त स्वभाव की अनुभूति चाहते हो, तो अपने क्षुद्र स्वभाव के साथ सारे सम्बन्धों को तत्काल तिलांजलि दे डालो। अपनी देह तथा मन को भूला दो। देह -मन के साथ अपना तादात्म्य दूर कर लो। वस्तुत: तुम निरन्तर ऐसा ही करते रहते हो। क्या तुम सदैव ऐसा सोचते हो कि मैं लम्बा या ठिगना हूँ, मैं काला या गोरा हूँ, मैं दुबला या मोटा हूँ आदि? तुम यह सब तभी विचार करते हो जब आइने के सामने खड़े होते हो। स्वास्थ्य की क्या परिभाषा है? कोई मनुष्य तभी पूर्णत: स्वस्थ माना जाता है, जब उसे अपनी देह का बोध ही न हो। जब सिर-दर्द होता है, केवल तभी तुम्हें स्मरण आता है कि तुम्हारा एक सिर है, जब पैर दर्द करता है तभी तुम अपने पैर का विचार करते हो। तुम आत्म-स्वरूप हो। तुम जीवन-स्वरूप हो। हालाँकि तुम्हारे आत्म-स्वरूप पर शरीर का प्रभाव अत्यधिक है, मगर वह तुम्हें अपने स्वरूप की स्मृति से च्युत नहीं कर सकता। जब तुम किसी सुन्दर दृश्यावली अथवा मधुर संगीत का आनन्द ले रहे होते हो, तब देह का विस्मरण हो जाता है, अर्थात् उन क्षणों में तुम देह के परे चले जाते हो। यही तुम्हारा यथार्थ स्वरूप है और इसीलिये तुम्हें सुख मिलता है। जब तुम शान्त, गम्भीर और विचारों में मग्न होते हो, तब उन्हें अपने शरीर का विस्मरण हो जाता है और इस अवस्था में कोई अनपेक्षित विघ्न आने पर तुम्हें पीड़ा होती है।

रसास्वादन के क्षणों में विचारों की मृत्यु हो जाती है। जब तुम विचार कर रहे थे, जब तुम्हें देह-बोध नहीं था, तब तुम कहाँ चले गये थे। तुम अपने देह एवं मन से बाहर चले गये थे, इसी का नाम आनन्द है। आनन्द तुम्हारा सच्चा स्वरूप है, इसीलिये तुम आनन्दित होना चाहते हो। मनुष्य सदैव अपनी दुर्दशा से पीड़ित होने के कारण सुख-प्राप्ति के लिये व्याकुल है। मनुष्य सतत् आनन्द की खोज में है, इस हेतु वह इस गाँव से उस गाँव, इस नगर से उस नगर, इस देश से उस देश मारा-मारा फिरता है, ताकि वह अपने खोये हुये आनन्द को पुन: पा सके, पर आनन्द की यह खोज वस्तुत: ईश्वर की खोज ही है, क्योंकि ईश्वर और आनन्द एक ही तत्त्व है। वे समानार्थी शब्द हैं। इसीलिये यह उक्ति है – 'एक मूर्ख ने कहा कि उसके हृदय में ईश्वर नहीं है'; क्योंकि सभी सुख ईश्वर से ही स्फुरित होते हैं और हर सुखान्वेषी व्यक्ति ईश्वर की ही खोज करता है।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

सन् २०२० का भारत

पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

(पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने सन् २०२० तक अपने देश को एक विकासशील भारत से विकसित भारत बनाने का स्वप्न देखा है। उन्होंने पाँच प्रमुख बिन्दुओं की पहचान की है, जिन पर ठीक से काम किया जाये, तो देश खाद्य, ऊर्जा और आर्थिक दृष्टि से अग्रणी हो जायेगा। १८५७ की क्रान्ति की १५०वीं सालगिरह पर ११ मई, २००७ को लाल किले के प्राचीर से राष्ट्र के नाम सम्बोधन तथा ७ मई को बिजनेस वर्ल्ड, फिक्की एस.ई.डी.एफ कारपोरेट सोशल रिसपांसिबिलिटी पुरस्कार समारोह में दिए गए वक्तव्य के अंश।)

५५ करोड़ युवा २०२० के विकसित भारत के निर्माण में प्रमुख भूमिका निभायेंगे। इस साल हम अपनी आजादी की ६०वीं सालगिरह मना रहे हैं। हमारे इस पहले सपने को पूरा करने लिए हमारी पुरानी पीढ़ियों ने जद्दोजहद की, और इसे हकीकत में बदलने की प्रक्रिया में उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। आज, जब हम आगे की ओर देखना चाहते हैं, तो हमारे पास एक नया सपना, एक नई दृष्टि भी होनी चाहिए। वह सपना है भारत को २०२० ई. तक एक विकसित देश बनाने का। इस लक्ष्य को पाने की राह पर एक देश के रूप में हमें क्या करना होगा?

हमारा मिशन होना चाहिए – २२ करोड़ लोगों की आँखों से गरीबी के आँसू पोंछकर सभी एक अरब से भी अधिक देशवासियों के चेहरे पर मुस्कान लाना। २०२० ई. तक भारत को विकसित राष्ट्र बनाने के लिए, भारत के राष्ट्रपति के रूप में, संसद को एक रोड-मैप सौंपने का मौका मुझे मिला। हमने पाँच क्षेत्रों की पहचान है, जिनमें समन्वित कार्यवाही के लिए भारत प्रमुख रूप से सक्षम है। ये हैं –

(१) कृषि और खाद्य प्रसंस्करण

(२) शिक्षा और स्वास्थ्य

(३) सूचना एवं संचार तकनीक

(४) इन्फ्रास्ट्रक्चर (मूलभूत आवश्यकताएँ – विशेषकर पर्याप्त बिजली आपूर्ति, ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी सुविधाएँ तथा बुनियादी जरूरतें पूरी करना और देश के हर हिस्से में परिवहन प्रणाली उपलब्ध कराना)।

(५) रणनीतिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण तकनीकों में आत्मनिर्भरता।

ये पाँचों क्षेत्र आपस में एक-दूसरे से काफी जुड़े हुए हैं और जब प्रभावकारी तरीके से इन पर काम किया जाय, तो खाद्य, आर्थिक, ऊर्जा और राष्ट्रीय सुरक्षा की दिशा में देश अग्रसर होगा। ग्रामीण और शहरी इलाकों में सन्तुलित विकास के लिए इन पाँचों मामलों में देश के सभी राज्यों तथा केंद्रशासित प्रदेशों में समग्र उन्नति होना चाहिए।

मूल्य आधारित शिक्षा

शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है, जिस पर आनेवाले वर्षों में काफी ध्यान देने की जरूरत है। देश में प्राइवेट सेक्टर की तेज प्रगति के बीच मेरा मानना है कि शिक्षा के लिए सरकार के साथ-साथ दूसरों को भी जिम्मेदारी लेनी चाहिए। शिक्षा को आदर्श-केन्द्रित प्रणाली के साथ इस तरह डिजाइन किया जाना चाहिए कि बच्चों के मन में नेकी की भावना का विकास हो। विशेषकर ग्रामीण इलाकों के स्कूलों को उस क्षेत्र में सामाजिक रूप से जिम्मेदार संस्थाएँ गोद लें और वहाँ दूर-दराज से आनेवाले बच्चों के लिए पीने के शुद्ध पानी, परिवहन तथा शौचालय जैसी मूलभूत सुविधाएँ और खेल-संकुल और कम्प्यूटर जैसी सुविधाएँ उपलब्ध कराएँ। इस मकसद को हासिल करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक तीव्र और व्यापक विकास आन्दोलन की जरूरत है। इस आन्दोलन में प्रत्येक नागरिक और हमारे लोकतंत्र के प्रत्येक घटक को भागीदारी निभानी होगी। नागरिकों की भूमिका कई महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में हो सकती है। मसलन ऐसे क्षेत्रों और लोगों तक पहुँचकर जागरूकता फैलाना, जहाँ अभी तक विकास की पहुँच नहीं है। उपलब्ध सेवाओं, मानव-संसाधन विकास, उद्यमिता, सामजिक समृद्धि में महिलाओं का योगदान, पर्यावरण विकास और विकसित भारत के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक प्रणाली में युवाओं को शामिल होने के बारे में भी जागरूकता फैलाई जा सकती है। आइए, वर्ष २०२० ई. तक भारत को एक विकसित देश बनाने के लिए अपने मिशन की शुरुआत करें।

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण तत्त्व और लीला-चिन्तन

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

श्रीरामकृष्ण वेद-विग्रह भगवान हैं। ये वेद-उपनिषदों के तत्त्व और अर्थ के प्रकाशक हैं। ये वेदान्त के ब्रह्म, प्रकृति के स्रष्टा तथा उनके साथ लीला करनेवाले लीलाधर भी हैं। श्रीरामकृष्ण जगत के कण-कण से प्रतिध्वनित होनेवाले शब्द-ब्रह्म हैं। ये संसार के समस्त पदार्थों के प्रकाशक हैं। ये जड़-चेतन सबके सृष्टि-स्थिति-लय स्थल हैं। ये प्राणियों के लौकिक, अलौकिक शरणस्थल हैं। ये नित्य, चेतन, आनन्दस्वरूप परमधाम पूर्णावतार हैं।

श्रीरामकृष्ण तन्त्र-मन्त्र और इनके अभिष्ट आराध्य भी हैं। ये वाच-वाचक और वाच्य भी हैं। ये शब्द और अर्थ हैं। वाङ्मय अधिष्ठात्री देवी सम्पूर्ण संसार की शब्द-ध्वनि से इनकी स्तुति में सतत संलग्न रहती हैं। ये सर्वसम्प्रदाय सम्मानक, सर्वधर्मसत्य-अनुभवकर्ता, सर्वधर्म-सत्यप्रमाणक, सर्वजनहिताय, सर्वजन-सुखाय, सर्वजनअभिप्रेत, सर्वाभिप्सित लक्ष्य की ओर प्रेरक एवं उनके लक्ष्य-साधक सिद्धिप्रदाता हैं।

श्रीरामकृष्ण सांख्य के पुरुष हैं। ये साकार और निराकार के विबोधक हैं। ये ब्रह्माण्ड अधिपति, जगदाधार, जगत-मंच के अधिनायक और सर्व-अधीश्वर जगदीश्वर भी हैं। ये समस्त साधकों द्वारा व्यक्त ईश्वर-व्याकुलता के समन्वित रूप हैं। ये समस्त साधकों द्वारा प्रार्थित उनके प्राप्तव्य अभिष्ट भी हैं।

श्रीरामकृष्ण प्रेमावतार हैं। ये भक्ति-गंगा के मूल श्रोत गंगोत्री-गोमुख हैं। ये ज्ञान के प्रकाशपुंज हैं। ये एक निष्ठावान साधक, मुमुक्षु साधकों के साध्य और तीव्र संसाराग्नि से मुक्तिकामी साधकों एवं ईश्वरार्थ सर्वत्यागी एकमेव परमात्मा के अन्वेषी, सर्वजनसुलभ, जन-साधारणार्थ बोधगम्य, सभी स्तर के तत्त्वान्वेषी साधकों के सुयोग्य साधन भी हैं। ये सांसारिक विषयानल से मुक्ति के उद्घोषक एवं मुक्तिप्रदाता हैं।

श्रीरामकृष्ण वेद-पुरुष हैं। इन्होंने क्षीण होती शाश्वत वैदिक संस्कृति की महिमा को स्व आचरण से पुनर्स्थापित किया। ये वेद-मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि, वैदिक ऋचाओं के अनुभवकर्ता एवं स्वानुभव द्वारा सन्त-मुनियों के द्वारा भी अबोध तत्त्व को सरल सुगम एवं सुप्रचलित भाषा में सामान्य लोगों को भी बोध कराने वाले हैं। ये सुमधुर कण्ठ से भक्तिपूर्ण भजनों के गायक हैं।

श्रीरामकृष्ण मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्र के आदर्शमय जीवन के प्रतीक, त्यागमूर्ति, कर्मयोगी, श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य प्रेम और सर्वयोग-समन्वय के साक्षात् विग्रह हैं। ये राम की शूरता, श्रीकृष्ण की वीरता आदि बाह्य प्रतीक संघर्षों के ईश्वरप्राप्त्यर्थ व्याकुलता में परिवर्तक हैं। ये श्रीराम और श्रीकृष्ण के श्रेष्ठतम जीवन-आदर्श के अभिव्यंजक हैं। ये प्रेमावतार चैतन्यदेव के मूर्तरूप हैं। ये भक्त और भगवान की महिमा के सुगमबोधक हैं।

श्रीरामकृष्ण नीलकण्ठ हैं, जिन्होंने संसार के समस्त प्राणियों के पापों को निर्विचार ग्रहण कर उनके परमेश्वर-प्राप्ति के पथ को प्रशस्त किया। ये प्राणियों के अघ-विष का पान कर कभी उद्धत नहीं हुये, बल्कि शिव-सदृश शान्त, समाधिस्थता के साथ-साथ सामान्य धरातल पर आकर सदा जन-कल्याण में संलग्न रहे।

श्रीरामकृष्ण शिव-शक्ति के समन्वित रूप हैं। ये अपनी षोडश कलाओं को अपने अन्तरंग नरेन्द्रादि सोलह शिष्यों के द्वारा प्रकाशक हैं। श्रीरामकृष्ण शाश्वत सनातन ब्रह्म को मातृरूप में, कालीरूप में अनुभव करनेवाले और प्रतिष्ठापक हैं। ये ब्रह्म और काली के अभेदद्रष्टा एवं एक्यबोधक हैं। ये नित्य, अनन्त, अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्म को भवतारिणी माँ काली के रूप में प्रथम पूजक एवं स्वयं उस महान शक्ति के द्योतक हैं। वे भक्तों के कल्याणार्थ उनमें ईश्वर के प्रति श्रद्धा-भक्तिवर्धनार्थ उनके घर-घर जाकर उनमें ईश्वरभक्ति संचारक हैं।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने विलुप्त होती विश्व की सनातन संस्कृति के नैतिक मूल्यों के ह्रास पर क्रन्दन करती हुई भारत माता की पुकार पर अन्याय, अनाचार, अनास्था के वर्धन तथा अपने सन्तानों पर हो रहे अत्याचार से, अपने संततियों की व्यग्र वेदना पर जगत को पुन: सत्पथ प्रदर्शित करने एवं शाश्वत मूल्यों के स्थापनार्थ विश्ववासियों को पुन: परमानन्द-रस के बोध कराने हेतु प्राच्य के पावन प्रदेश भारत के पश्चिम बंगाल राज्य के कामारपुकुर ग्राम में तेजोमय शरीर में आविर्भूत हुये। ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने लोक-कल्याणार्थ परम आनन्द धाम का त्यागकर, सप्तर्षि मण्डल के ऋषि को भी आने का वचन देकर, इस दु:खमय संसार में आकर भक्तों के पाप-ताप, रोग-शोक, व्यथा-वेदना को ग्रहणकर असहनीय अनिवारणीय कैन्सर के दु:साध्य रोग से उद्भूत गले की वेदना को सहन किया। ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने विपन्न परिवार में जन्म लेकर भी, सम्मुख भौतिक प्रसाधन की अत्यल्पता होते हुये भी बाल्यकाल से ही अर्थार्जन करनेवाली विद्या से विमुख रहे एवं ईश्वर-विद्या को स्वीकार कर सत्य तथा सदाचार से कभी विचलित नहीं हुये।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जो कामारपुकुरवासियों के 'गदाई'

थे, जिन्होंने अपनी बाल-क्रीड़ा से माता-पिता, स्वजन-परिजन तथा ग्रामवासियों को अद्भुत आनन्द प्रदान किया तथा भौतिक ऐश्वर्य चकाचौंध कोलकाता शहर में आकर भी सदा सरल, निष्ठावान और प्राच्य संस्कृति के वाहक बने रहे, भौतिकता में भी अभौतिक बने रहे।

श्रीरामकृष्ण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी परम ब्रह्म पूर्ण परमात्मा हैं। ये उत्तमोत्तम साधकों के आदर्श हैं, जिन्होंने अपनी साधना पर्वतराज हिमालय के गह्वर या किसी वन-प्रान्तर में नहीं की, बल्कि भारत के विख्यात ऐश्वर्य-विलास-सम्पन्न नगर कोलकाता के जनसंकुल दक्षिणेश्वर में किया तथा अल्पायु एवं अल्पावधि में ही अपने अभिप्सित साध्य की उपलब्धि की थी। इनकी त्याग-तपस्या तथा 'माँ, माँ' की पुकार से दक्षिणेश्वर की भवतारिणी माँ अपने पुत्र को दर्शन देने में अब और अधिक बिलम्ब नहीं कर सकीं। वे जाग्रत हो उठीं और मूर्ति भेदकर साक्षात् सम्मुखीन होकर इनके बाहर-भीतर सर्वत्र प्रकाशित हो उठीं। इनके क्रन्दन से दक्षिणेश्वर, गंगा-तट, पंचवटी, काली मन्दिर, गर्भगृह, आदि सभी निस्तब्ध एवं शोकाकुल हो जाता था। वे बिलख-बिलखकर कहते – 'माँ ! तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया है, तो मुझे क्यों न दर्शन देगी? मैं धन, जन, भोगसुख कुछ भी नहीं चाहता हूँ, मुझे दर्शन दे!'' ''माँ मैं जो इतना पुकार रहा हूँ, क्या तू उसका कुछ भी नहीं सुन पा रही है? रामप्रसाद को तूने दर्शन दिया है, मुझे क्या तू दर्शन न देगी?'' (श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग, भाग-१, पृष्ठ-२११,२१२) जब इतने पर भी उन्हें माँ का दर्शन नहीं मिला, तब उन्होंने सोचा कि इस जीवन से क्या लाभ ! और तत्काल मंदिर में टँगे तलवार की ओर एक उन्मत्त पागल के समान दौड़ पड़े और अपने जीवन को समाप्त करनेवाले ही थे कि उन्हें माँ काली का अद्भुत दर्शन मिला।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने तत्कालीन ब्रह्मसमाज, वैष्णव-सम्प्रदाय इत्यादि विभिन्न सम्प्रदायों, मतवादों को सत्य घोषित किया तथा उन-उन मतावलम्बियों की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता की।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने काशीपुर-उद्यान में नित्य अनेकों अद्भुत दिव्य लीलायें कीं तथा कल्पतरु होकर उपस्थित भक्तों की मनोवांछा पूर्ण की और सबको 'चैतन्य-प्राप्ति' का विलक्षण अभय वरदान दिया था। इस काशीपुर में हीं उन्होंने अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप का उद्घाटन अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) के सम्मुख की थी – 'जो राम थे, जो कृष्ण थे, वही इस शरीर में रामकृष्ण होकर प्रकट हुये हैं।'

बाढ़ राहत कार्य : एक संक्षिप्त रिपोर्ट

पिछले कुछ दिनों के दौरान हुई भयानक बरसात ने पूर्वी बंगाल तथा पड़ोसी राज्यों में बड़े परिमाण में विनाश-लीला की है। इसके फलस्वरूप लाखों लोग बेघर हो गये हैं। रामकृष्ण मिशन तत्काल बाढ़-पीड़ितों को राहत पहुँचाने के कार्य में लग गया, जिसका विवरण निम्नलिखित है –

पूर्वी बंगाल : पूर्वी तथा पश्चिमी मिदनापुर जिले : सबंग ब्लाक में, स्पीड बोट के द्वारा बाढ़ के पानी में फँसे हुए ३०० से भी अधिक लोगों का उद्धार किया गया। पूर्वी तथा पश्चिमी मिदनापुर जिले के ११ ब्लाकों (सबंग, पतसपुर १ तथा २, भगवानपुर १, नारायणगढ़, दन्तन १ तथा २, देबरा, एगरा १, पिंगला तथा पाँसकुरा १) के दसियों हजार बाढ़-पीड़ितों के बीच चिउड़ा, गुड़, चीनी, बिस्कुट, मोमबत्तियाँ, हेलोजेन टैब्लेट्स आदि का वितरण किया जा रहा है। अन्य प्रभावित क्षेत्रों में भी राहत-कार्य के विस्तार का प्रयास किया जा रहा है।

झारखण्ड : जमशेदपुर तथा घाटशीला के निचले क्षेत्रों में बसे और बुरी तरह बाढ़ से प्रभावित लगभग ३०० लोगों को १८ जून से दोनों समय का भोजन तथा नाश्ते की व्यवस्था की जा रही है। इनमें से कुछ स्थानों पर सूखा राशन, दूध तथा चिकित्सकीय सेवा की व्यवस्था भी हो रही है। राहत-कार्य जारी है। आगामी रीपोर्ट की प्रतीक्षा है।

इस मद में नगद अथवा ''रामकृष्ण मिशन, कोलकाता'' के नाम से बने तथा कोलकाता में देय चेक या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा दिये गये दान आयकर की धारा ८०-जी के अन्तर्गत करमुक्त हैं। दान भेजने का पता –

महासचिव, रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ, हावड़ा (प.बं.) ७११२०२

फोन : २६५४ ९५८१ / ९६८१; फैक्स : २६५४ ९८८५

ई-मेल : rkmrelief@gmail.com ; वेबसाइट : www.belurmath.org/relief

बेलूड़ मठ

दिनांक : २२.०६.२००८

स्वामी प्रभानन्द

महासचिव